पाश्चात्य समालोचना

सम्पादक : देवेन्द्रनाथ शर्मा

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

क० अहमद
भूतपूर्व प्राचार्य, पटना कालेज, पटना

अनुवादक
देवेन्द्रनाथ शर्मा

पटना-१

विषय-सूची

पुरोवाक्

पाश्चात्य समालोचना में जो कुछ उत्तम और उपादेय है उसे हिन्दी में सुलभ बनाना, इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही कठिन। इसकी सफलता हिन्दी के विज्ञ लेखकों, प्रबुद्ध पाठकों तथा सक्रिय समर्थकों के समवेत सहयोग से ही सम्भव है।

हिन्दी की आधुनिक आलोचना-पद्धति भारतीय सिद्धान्तों की अपेक्षा पाश्चात्य सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित है। भारतीय तथा पाश्चात्य पद्धतियों के समन्वय से एक व्यापक आलोचना-पद्धति का निर्माण भी शक्य है, किन्तु इसके लिए दोनों का निर्भ्रान्त ज्ञान अपेक्षित है, जो अँगरेजी के माध्यम से अब बहुतों के लिए सुकर नहीं रह गया है। हिन्दी ही उस ज्ञान एवं समन्वय का समर्थक सेतु बन सकती है।

इसके लिए हमें दो मार्ग व्यावहारिक प्रतीत होते हैं : एक तो यह कि जो ग्रन्थ अनुवाद के योग्य हों उनका अनुवाद किया जाए; दूसरा कि जहाँ सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद बहुत उपयोगी प्रतीत न हो, वहाँ उसके मूल एवं मुख्य विचारों को स्वतन्त्र रूप से उपस्थित किया जाए। ऐसा करते समय यह अच्छा होगा कि उदाहरण अपने साहित्य से ही दिये जाएँ। इससे सिद्धान्त के ज्ञान में तो सौकर्य होगा ही, उसका विनियोग भी स्पष्ट हो जाएगा।

तत्काल इस योजना में प्रकाशनार्थ हमने निम्नलिखित छः पुस्तकें चुनी हैं :

१. रिचर्ड्‌स के आलोचना-सिद्धान्त (प्रकाशित)।

२. मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन (आपके हाथ में है)।

३. उपन्यास का शिल्प।

४. पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र।

५. शैली।

६. सौन्दर्यशास्त्र और भाषाशास्त्र।

हमने ग्रन्थों को चुनते समय इसका ध्यान रखा है कि आरम्भ में ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित किये जाएँ जो व्यापक पाठकवर्ग की आवश्यकता, अभिरुचि और माँग की पूर्ति कर सकें।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य है मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन। पाश्चात्य आलोचकों का एक वर्ग मनोविश्लेषण को साहित्यालोचन के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानता है, किन्तु दूसरा वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। इस वर्ग का कहना है कि दोनों के क्षेत्र भिन्न एवं पृथक् हैं और मनोविश्लेषण से साहित्यालोचन को कोई लाभ नहीं हो सकता। इस पुस्तक में दोनों पक्षों के मंतव्यों और तर्क-वितर्कों पर सविस्तर विचार कर द्वितीय वर्ग का, अर्थात् साहित्यालोचन के लिए मनोविश्लेषण अनुपयोगी है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

पुस्तक की विचार-सरणि को स्पष्ट तथा सुग्राह्य बनाने के लिए नीचे मनोविश्लेषण की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) की एक शाखा है। यों, मनोविज्ञान भी कोई बहुत पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है; उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शन के अंग के रूप में ही होता रहा है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान दर्शन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी बन बैठा। यही नहीं, आधी शताब्दी के अन्दर उसका इस गति से विकास और प्रसार हुआ कि शायद ही कोई शास्त्र उससे सर्वथा अप्रभावित रह पाया।

मनोविज्ञान के अनेक विभाग हो गये हैं : जैसे, बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, लोक-मनोविज्ञान, विधि-मनोविज्ञान, समूह-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, अपराध-मनोविज्ञान, व्यष्टि-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, विभेद-मनोविज्ञान, व्यवसाय-मनोविज्ञान, समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-मनोविज्ञान, जननिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान, अपसामान्य मनोविज्ञान, तुलनात्मक मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, संरचनात्मक मनोविज्ञान, गणितीय मनोविज्ञान, सांख्यिकीय मनोविज्ञान, हार्मिक मनोविज्ञान, विश्लेषक मनोविज्ञान, वस्तुनिष्ठ मनोविज्ञान, विषयनिष्ठ मनोविज्ञान आदि। इन नामों से ही मनोविज्ञान की व्यापकता और विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता है कि मन और शरीर परस्पर-निरपेक्ष

हैं पर उनमें निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। अतः शरीर से पृथक् मन का तथा मानसिक व्यापारों का अध्ययन सम्भव ही नहीं, संगत भी है।

मनोविश्लेषण का उद्भव मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। फ्रायड, ऐडलर और युंग (उच्चारण यङ), जिन्हें मनोविश्लेषण की वृहत्त्रयी कह सकते हैं, मूलतः चिकित्सक थे। मानसिक चिकित्सा के क्रम में उनके सामने बहुत सारे ऐसे तथ्य आये जिनके विश्लेषण से मनोविश्लेषण नाम का एक नया विज्ञान निर्मित हुआ। इन चिकित्सकों के, विशेषतः फ्रायड के, निष्कर्ष इतने अपारम्परिक तथा प्रचलित धारणाओं के विपरीत थे कि वे सहसा ग्राह्य नहीं हुए और उन पर प्रबुद्ध वर्ग की प्रतिक्रियाएँ बड़ी ही प्रतिकूल एवं उग्र हुईं। धीरे-धीरे, जैसा प्रत्येक नये मतवाद के साथ होता है, विरोध का स्वर मन्द पड़ा और कुछ लोग इस अभिनव विज्ञान को जानने-समझने को उन्मुख हुए; कइयों ने समर्थन का झण्डा उठाया; कुछ की तटस्थता सहानुभूति में परिणत हुई। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण की सीमा विस्तृत होने लगी। साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। पहले रचनात्मक साहित्य (विशेषतः उपन्यास) प्रभावित हुआ और उसके बाद आलोचनात्मक साहित्य।

मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक के रूप में **फ्रायड** का नाम सुपरिचित है। **ऐडलर** और **युंग** प्रारम्भ में फ्रायड के अनुगामी और सहयोगी थे किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड की मान्यताओं से इतनी भिन्न हो गयीं कि वे अलग हो गये और अपनी मान्यताओं को उन्होंने स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। सामान्यतः मनोविश्लेषण शब्द से तीनों का बोध कराया जाता है, पर उनके पारस्परिक भेद की दृष्टि से उन्हीं नामों का प्रयोग उचित होगा जो उनके उद्भावकों ने दिये हैं—

फ्रायड—मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस)।
ऐडलर—व्यष्टि-मनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी)।
युंग—विश्लेषक मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)।

मनोविश्लेषण : फ्रायड

मनोविश्लेषण की उद्भावना का श्रेय सिग्मंड फ्रायड को है। **फ्रायड** का जन्म मोराविया में (जो पहले ऑस्ट्रिया में था पर अब **चेकोस्लोवाकिया**

प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य है मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन। पाश्चात्य आलोचकों का एक वर्ग मनोविश्लेषण को साहित्यालोचन के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानता है, किन्तु दूसरा वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। इस वर्ग का कहना है कि दोनों के क्षेत्र भिन्न एवं पृथक् हैं और मनोविश्लेषण से साहित्यालोचन को कोई लाभ नहीं हो सकता। इस पुस्तक में दोनों पक्षों के मंतव्यों और तर्क-वितर्कों पर सविस्तर विचार कर द्वितीय वर्ग का, अर्थात् साहित्यालोचन के लिए मनोविश्लेषण अनुपयोगी है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

पुस्तक की विचार-सरणि को स्पष्ट तथा सुग्राह्य बनाने के लिए नीचे मनोविश्लेषण की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) की एक शाखा है। यों, मनोविज्ञान भी कोई बहुत पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है; उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शन के अंग के रूप में ही होता रहा है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान दर्शन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी बन बैठा। यही नहीं, आधी शताब्दी के अन्दर उसका इस गति से विकास और प्रसार हुआ कि शायद ही कोई शास्त्र उससे सर्वथा अप्रभावित रह पाया।

मनोविज्ञान के अनेक विभाग हो गये हैं : जैसे, बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, लोक-मनोविज्ञान, विधि-मनोविज्ञान, समूह-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, अपराध-मनोविज्ञान, व्यष्टि-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, विभेद-मनोविज्ञान, व्यवसाय-मनोविज्ञान, समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-मनोविज्ञान, जननिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान, अपसामान्य मनोविज्ञान, तुलनात्मक मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, संरचनात्मक मनोविज्ञान, गणितीय मनोविज्ञान, सांख्यिकीय मनोविज्ञान, हार्मिक मनोविज्ञान, विश्लेषक मनोविज्ञान, वस्तुनिष्ठ मनोविज्ञान, विषयनिष्ठ मनोविज्ञान आदि। इन नामों से ही मनोविज्ञान की व्यापकता और विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता है कि मन और शरीर परस्पर-निरपेक्ष

हैं पर उनमें निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। अतः शरीर से पृथक् मन का तथा मानसिक व्यापारों का अध्ययन सम्भव ही नहीं, संगत भी है।

मनोविश्लेषण का उद्भव मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। फ्रायड, ऐडलर और युंग (उच्चारण यङ्ग), जिन्हें मनोविश्लेषण की बृहत्त्रयी कह सकते हैं, मूलतः चिकित्सक थे। मानसिक चिकित्सा के क्रम में उनके सामने बहुत सारे ऐसे तथ्य आये जिनके विश्लेषण से मनोविश्लेषण नाम का एक नया विज्ञान निर्मित हुआ। इन चिकित्सकों के, विशेषतः फ्रायड के, निष्कर्ष इतने अपारम्परिक तथा प्रचलित धारणाओं के विपरीत थे कि वे सहसा ग्राह्य नहीं हुए और उन पर प्रबुद्ध वर्ग की प्रतिक्रियाएँ बड़ी ही प्रतिकूल एवं उग्र हुईं। धीरे-धीरे, जैसा प्रत्येक नये मतवाद के साथ होता है, विरोध का स्वर मन्द पड़ा और कुछ लोग इस अभिनव विज्ञान को जानने-समझने को उन्मुख हुए; कइयों ने समर्थन का झण्डा उठाया; कुछ की तटस्थता सहानुभूति में परिणत हुई। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण की सीमा विस्तृत होने लगी। साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। पहले रचनात्मक साहित्य (विशेषतः उपन्यास) प्रभावित हुआ और उसके बाद आलोचनात्मक साहित्य।

मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक के रूप में **फ्रायड** का नाम सुपरिचित है। **ऐडलर** और **युंग** प्रारम्भ में फ्रायड के अनुगामी और सहयोगी थे किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड की मान्यताओं से इतनी भिन्न हो गयीं कि वे अलग हो गये और अपनी मान्यताओं को उन्होंने स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। सामान्यतः मनोविश्लेषण शब्द से तीनों का बोध कराया जाता है, पर उनके पारस्परिक भेद की दृष्टि से उन्हीं नामों का प्रयोग उचित होगा जो उनके उद्भावकों ने दिये हैं—

फ्रायड—मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस)।
ऐडलर—व्यष्टि-मनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी)।
युंग—विश्लेषक मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)।

मनोविश्लेषण : फ्रायड

मनोविश्लेषण की उद्भावना का श्रेय सिग्मंड फ्रायड को है। **फ्रायड** का जन्म मोराविया में (जो पहले ऑस्ट्रिया में था पर अब **चेकोस्लोवाकिया**

प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य है मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन। पाश्चात्य आलोचकों का एक वर्ग मनोविश्लेषण को साहित्यालोचन के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानता है, किन्तु दूसरा वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। इस वर्ग का कहना है कि दोनों के क्षेत्र भिन्न एवं पृथक् हैं और मनोविश्लेषण से साहित्यालोचन को कोई लाभ नहीं हो सकता। इस पुस्तक में दोनों पक्षों के मंतव्यों और तर्क-वितर्कों पर सविस्तर विचार कर द्वितीय वर्ग का, अर्थात् साहित्यालोचन के लिए मनोविश्लेषण अनुपयोगी है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

पुस्तक की विचार-सरणि को स्पष्ट तथा सुग्राह्य बनाने के लिए नीचे मनोविश्लेषण की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) की एक शाखा है। यों, मनोविज्ञान भी कोई बहुत पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है; उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शन के अंग के रूप में ही होता रहा है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान दर्शन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी बन बैठा। यही नहीं, आधी शताब्दी के अन्दर उसका इस गति से विकास और प्रसार हुआ कि शायद ही कोई शास्त्र उससे सर्वथा अप्रभावित रह पाया।

मनोविज्ञान के अनेक विभाग हो गये हैं : जैसे, बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, लोक-मनोविज्ञान, विधि-मनोविज्ञान, समूह-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, अपराध-मनोविज्ञान, व्यष्टि-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, विभेद-मनोविज्ञान, व्यवसाय-मनोविज्ञान, समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-मनोविज्ञान, जननिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान, अपसामान्य मनोविज्ञान, तुलनात्मक मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, संरचनात्मक मनोविज्ञान, गणितीय मनोविज्ञान, सांख्यिकीय मनोविज्ञान, हार्मिक मनोविज्ञान, विश्लेषक मनोविज्ञान, वस्तुनिष्ठ मनोविज्ञान, विषयनिष्ठ मनोविज्ञान आदि। इन नामों से ही मनोविज्ञान की व्यापकता और विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता है कि मन और शरीर परस्पर-निरपेक्ष

हैं पर उनमें निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। अतः शरीर से पृथक् मन का तथा मानसिक व्यापारों का अध्ययन सम्भव ही नहीं, संगत भी है।

मनोविश्लेषण का उद्भव मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। फ्रायड, ऐडलर और युंग (उच्चारण यङ्), जिन्हें मनोविश्लेषण की वृहत्त्रयी कह सकते हैं, मूलतः चिकित्सक थे। मानसिक चिकित्सा के क्रम में उनके सामने बहुत सारे ऐसे तथ्य आये जिनके विश्लेषण से मनोविश्लेषण नाम का एक नया विज्ञान निर्मित हुआ। इन चिकित्सकों के, विशेषतः फ्रायड के, निष्कर्ष इतने अपारम्परिक तथा प्रचलित धारणाओं के विपरीत थे कि वे सहसा ग्राह्य नहीं हुए और उन पर प्रबुद्ध वर्ग की प्रतिक्रियाएँ बड़ी ही प्रतिकूल एवं उग्र हुईं। धीरे-धीरे, जैसा प्रत्येक नये मतवाद के साथ होता है, विरोध का स्वर मन्द पड़ा और कुछ लोग इस अभिनव विज्ञान को जानने-समझने को उन्मुख हुए; कइयों ने समर्थन का झण्डा उठाया; कुछ की तटस्थता सहानुभूति में परिणत हुई। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण की सीमा विस्तृत होने लगी। साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। पहले रचनात्मक साहित्य (विशेषतः उपन्यास) प्रभावित हुआ और उसके बाद आलोचनात्मक साहित्य।

मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक के रूप में **फ्रायड** का नाम सुपरिचित है। **ऐडलर** और **युंग** प्रारम्भ में फ्रायड के अनुगामी और सहयोगी थे किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड की मान्यताओं से इतनी भिन्न हो गयीं कि वे अलग हो गये और अपनी मान्यताओं को उन्होंने स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। सामान्यतः मनोविश्लेषण शब्द से तीनों का बोध कराया जाता है, पर उनके पारस्परिक भेद की दृष्टि से उन्हीं नामों का प्रयोग उचित होगा जो उनके उद्भावकों ने दिये हैं—

फ्रायड—मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस)।
ऐडलर—व्यष्टि-मनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी)।
युंग—विश्लेषक मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)।

मनोविश्लेषण : फ्रायड

मनोविश्लेषण की उद्भावना का श्रेय सिग्मंड फ्रायड को है। **फ्रायड** का जन्म मोराविया में (जो पहले आॅस्ट्रिया में था पर अब **चेकोस्लोवाकिया**

प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य है मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन। पाश्चात्य आलोचकों का एक वर्ग मनोविश्लेषण को साहित्यालोचन के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानता है, किन्तु दूसरा वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। इस वर्ग का कहना है कि दोनों के क्षेत्र भिन्न एवं पृथक् हैं और मनोविश्लेषण से साहित्यालोचन को कोई लाभ नहीं हो सकता। इस पुस्तक में दोनों पक्षों के मंतव्यों और तर्क-वितर्कों पर सविस्तर विचार कर द्वितीय वर्ग का, अर्थात् साहित्यालोचन के लिए मनोविश्लेषण अनुपयोगी है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

पुस्तक की विचार-सरणि को स्पष्ट तथा सुग्राह्य बनाने के लिए नीचे मनोविश्लेषण की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) की एक शाखा है। यों, मनोविज्ञान भी कोई बहुत पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है; उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शन के अंग के रूप में ही होता रहा है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान दर्शन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी बन बैठा। यही नहीं, आधी शताब्दी के अन्दर उसका इस गति से विकास और प्रसार हुआ कि शायद ही कोई शास्त्र उससे सर्वथा अप्रभावित रह पाया।

मनोविज्ञान के अनेक विभाग हो गये हैं : जैसे, बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, लोक-मनोविज्ञान, विधि-मनोविज्ञान, समूह-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, अपराध-मनोविज्ञान, व्यष्टि-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, विभेद-मनोविज्ञान, व्यवसाय-मनोविज्ञान, समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-मनोविज्ञान, जननिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान, अपसामान्य मनोविज्ञान, तुलनात्मक मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, संरचनात्मक मनोविज्ञान, गणितीय मनोविज्ञान, सांख्यिकीय मनोविज्ञान, हार्मिक मनोविज्ञान, विश्लेषक मनोविज्ञान, वस्तुनिष्ठ मनोविज्ञान, विषयनिष्ठ मनोविज्ञान आदि। इन नामों से ही मनोविज्ञान की व्यापकता और विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता है कि मन और शरीर परस्पर-निरपेक्ष

हैं पर उनमें निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। अतः शरीर से पृथक् मन का तथा मानसिक व्यापारों का अध्ययन सम्भव ही नहीं, संगत भी है।

मनोविश्लेषण का उद्भव मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। फ्रायड, ऐडलर और युंग (उच्चारण यङ), जिन्हें मनोविश्लेषण की वृहत्त्रयी कह सकते हैं, मूलतः चिकित्सक थे। मानसिक चिकित्सा के क्रम में उनके सामने बहुत सारे ऐसे तथ्य आये जिनके विश्लेषण से मनोविश्लेषण नाम का एक नया विज्ञान निर्मित हुआ। इन चिकित्सकों के, विशेषतः फ्रायड के, निष्कर्ष इतने अपारम्परिक तथा प्रचलित धारणाओं के विपरीत थे कि वे सहसा ग्राह्य नहीं हुए और उन पर प्रबुद्ध वर्ग की प्रतिक्रियाएँ बड़ी ही प्रतिकूल एवं उग्र हुईं। धीरे-धीरे, जैसा प्रत्येक नये मतवाद के साथ होता है, विरोध का स्वर मन्द पड़ा और कुछ लोग इस अभिनव विज्ञान को जानने-समझने को उन्मुख हुए; कइयों ने समर्थन का झण्डा उठाया; कुछ की तटस्थता सहानुभूति में परिणत हुई। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण की सीमा विस्तृत होने लगी। साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। पहले रचनात्मक साहित्य (विशेषतः उपन्यास) प्रभावित हुआ और उसके बाद आलोचनात्मक साहित्य।

मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक के रूप में **फ्रायड** का नाम सुपरिचित है। **ऐडलर** और **युंग** प्रारम्भ में फ्रायड के अनुगामी और सहयोगी थे किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड की मान्यताओं से इतनी भिन्न हो गयीं कि वे अलग हो गये और अपनी मान्यताओं को उन्होंने स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। सामान्यतः मनोविश्लेषण शब्द से तीनों का बोध कराया जाता है, पर उनके पारस्परिक भेद की दृष्टि से उन्हीं नामों का प्रयोग उचित होगा जो उनके उद्भावकों ने दिये हैं—

फ्रायड—मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस)।

ऐडलर—व्यष्टि-मनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी)।

युंग—विश्लेषक मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)।

० मनोविश्लेषण : फ्रायड

मनोविश्लेषण की उद्भावना का श्रेय सिग्मंड फ्रायड को है। **फ्रायड** का जन्म मोराविया में (जो पहले ऑस्ट्रिया में था पर अब **चेकोस्लोवाकिया**

प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य है मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन। पाश्चात्य आलोचकों का एक वर्ग मनोविश्लेषण को साहित्यालोचन के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानता है, किन्तु दूसरा वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। इस वर्ग का कहना है कि दोनों के क्षेत्र भिन्न एवं पृथक् हैं और मनोविश्लेषण से साहित्यालोचन को कोई लाभ नहीं हो सकता। इस पुस्तक में दोनों पक्षों के मंतव्यों और तर्क-वितर्कों पर सविस्तर विचार कर द्वितीय वर्ग का, अर्थात् साहित्यालोचन के लिए मनोविश्लेषण अनुपयोगी है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

पुस्तक की विचार-सरणि को स्पष्ट तथा सुग्राह्य बनाने के लिए नीचे मनोविश्लेषण की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन

मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) की एक शाखा है। यों, मनोविज्ञान भी कोई बहुत पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है; उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शन के अंग के रूप में ही होता रहा है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान दर्शन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी बन बैठा। यही नहीं, आधी शताब्दी के अन्दर उसका इस गति से विकास और प्रसार हुआ कि शायद ही कोई शास्त्र उससे सर्वथा अप्रभावित रह पाया।

मनोविज्ञान के अनेक विभाग हो गये हैं : जैसे, बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, लोक-मनोविज्ञान, विधि-मनोविज्ञान, समूह-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, अपराध-मनोविज्ञान, व्यष्टि-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, विभेद-मनोविज्ञान, व्यवसाय-मनोविज्ञान, समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-मनोविज्ञान, जननिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान, अपसामान्य मनोविज्ञान, तुलनात्मक मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, संरचनात्मक मनोविज्ञान, गणितीय मनोविज्ञान, सांख्यिकीय मनोविज्ञान, हार्मिक मनोविज्ञान, विश्लेषक मनोविज्ञान, वस्तुनिष्ठ मनोविज्ञान, विषयनिष्ठ मनोविज्ञान आदि। इन नामों से ही मनोविज्ञान की व्यापकता और विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता है कि मन और शरीर परस्पर-निरपेक्ष

हैं पर उनमें निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। अतः शरीर से पृथक् मन का तथा मानसिक व्यापारों का अध्ययन सम्भव ही नहीं, संगत भी है।

मनोविश्लेषण का उद्भव मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। फ्रायड, ऐडलर और युंग (उच्चारण यङ), जिन्हें मनोविश्लेषण की वृहत्त्रयी कह सकते हैं, मूलतः चिकित्सक थे। मानसिक चिकित्सा के क्रम में उनके सामने बहुत सारे ऐसे तथ्य आये जिनके विश्लेषण से मनोविश्लेषण नाम का एक नया विज्ञान निर्मित हुआ। इन चिकित्सकों के, विशेषतः फ्रायड के, निष्कर्ष इतने अपारम्परिक तथा प्रचलित धारणाओं के विपरीत थे कि वे सहसा ग्राह्य नहीं हुए और उन पर प्रबुद्ध वर्ग की प्रतिक्रियाएँ बड़ी ही प्रतिकूल एवं उग्र हुईं। धीरे-धीरे, जैसा प्रत्येक नये मतवाद के साथ होता है, विरोध का स्वर मन्द पड़ा और कुछ लोग इस अभिनव विज्ञान को जानने-समझने को उन्मुख हुए; कइयों ने समर्थन का झण्डा उठाया; कुछ की तटस्थता सहानुभूति में परिणत हुई। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण की सीमा विस्तृत होने लगी। साहित्य भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। पहले रचनात्मक साहित्य (विशेषतः उपन्यास) प्रभावित हुआ और उसके बाद आलोचनात्मक साहित्य।

मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक के रूप में **फ्रायड** का नाम सुपरिचित है। **ऐडलर** और **युंग** प्रारम्भ में फ्रायड के अनुगामी और सहयोगी थे किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड की मान्यताओं से इतनी भिन्न हो गयीं कि वे अलग हो गये और अपनी मान्यताओं को उन्होंने स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। सामान्यतः मनोविश्लेषण शब्द से तीनों का बोध कराया जाता है, पर उनके पारस्परिक भेद की दृष्टि से उन्हीं नामों का प्रयोग उचित होगा जो उनके उद्भावकों ने दिये हैं—

फ्रायड—मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस)।

ऐडलर—व्यष्टि-मनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी)।

युंग—विश्लेषक मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)।

• मनोविश्लेषण : फ्रायड

मनोविश्लेषण की उद्भावना का श्रेय सिग्मंड फ्रायड को है। **फ्रायड** का जन्म मोराविया में (जो पहले ऑस्ट्रिया में था पर अब **चेकोस्लोवाकिया**

में है) ६ मई, १८५६ ई० को हुआ था। उसने विएना में चिकित्साविज्ञान का अध्ययन किया और तन्त्रिकाविज्ञान (न्युरॉलॉजी) को विशेषीकरण का विषय बनाया। कुछ दिनों तक पेरिस में शार्को नामक प्रसिद्ध मनश्चिकित्सक के साथ रहकर सम्मोहन (हिप्नॉटिज़्म) का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद विएना लौटकर उसने अपस्मार (हिस्टीरिया) की चिकित्सा के लिए सम्मोहन का प्रयोग करना शुरू किया किन्तु परिणाम सन्तोषजनक नहीं होने से उसने इस पद्धति को छोड़ दिया और अपनी स्वतन्त्र पद्धति विकसित की जिसका नाम मनोविश्लेषण है। जब ऑस्ट्रिया पर हिटलर ने १९३८ ई० में अधिकार कर लिया तब यहूदियों को वहाँ से भागना पड़ा। उन दिनों फ्रायड विएना विश्वविद्यालय में तन्त्रिकाविज्ञान का प्रोफेसर था किन्तु यहूदी होने के कारण नात्सी शासन में उसका रहना मुश्किल हो गया। अतः विएना छोड़कर वह लन्दन चला गया। वहीं १९३९ ई० में (द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के तीन सप्ताह बाद) उसकी मृत्यु हुई।

मनोविश्लेषण शब्द दो अर्थों का बोधक है: एक तो उस **प्रविधि** या **प्रक्रिया** का, जिसका फ्रायड ने मानव-मन की छानबीन में उपयोग किया है और दूसरे, उस **सिद्धान्त-समूह** का, जो उस छानबीन के क्रम में प्राप्त तथ्यों से निर्मित हुआ है। फ्रायड का दावा है कि वह पहला मनोविज्ञानी है जिसने मानब-मन की समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान ढूँढ़ा है; साथ ही, वह आत्मनिष्ठ (मानसिक) घटनाओं का उसी तटस्थता से अध्ययन कर सकता है, जिस तटस्थता से कोई वस्तुनिष्ठ घटनाओं का अध्ययन करता है। फ्रायड के दावे या सिद्धान्तों से हम सर्वथा सहमत न भी हों, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के बौद्धिक पर्यावरण को जितनी दूर तक और जितनी गहराई से उसने प्रभावित किया है, वैसा कोई दूसरा विचारक नहीं कर सका है। उसके सिद्धान्तों ने मनुष्य की धर्म, नैतिकता या शिक्षा से सम्बद्ध धारणाओं को ही नहीं, जीवन-पद्धति तक को परिवर्तित करने को प्रेरित किया है।

मान्यताएँ

१. फ्रायड का कहना है कि भौतिक या बाह्य घटना के समान ही प्रत्येक मानसिक घटना के पीछे कार्य-कारण-भाव रहता है। जैसे बाह्य जगत् में कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता, वैसे ही कोई मानसिक व्यापार भी

बिना कारण के नहीं होता। यह दृढ़ **नियतत्ववाद** (कार्य-कारण का नियत सम्बन्ध) फ्रायड के सिद्धांतों का मूलाधार है। इससे वह यह सिद्ध करना चाहता है कि प्रत्येक मानसिक व्यापार किसी-न-किसी कारण से प्रेरित होता है और उस कारण का पता लगाया जा सकता है।

२. मनोविश्लेषण की दूसरी आधारशिला **अचेतन मन** की कल्पना है। फ्रायड मन के तीन रूप मानता है: **चेतन** (**कॉन्शस**), **पूर्वचेतन** (**प्रीकॉन्शस**) और **अचेतन** (**अन्कॉन्शस**)। उसका कहना है कि

(क) **विस्तार** और **महत्त्व** की दृष्टि से चेतन की अपेक्षा **अचेतन** कहीं अधिक श्रेष्ठ है। **अचेतन** की स्थिति विशाल गोदाम या कबाड़खाने जैसी है जिसमें हर तरह की अनगिनत चीजें जमा रहती हैं और **चेतन** उन एक-दो चीजों के समान है जिन्हें गोदाम से बाहर निकालकर काम में लाया जाता है। एक दूसरा उदाहरण लें। अचेतन अगाध जलराशि है तो चेतन उस जलराशि के ऊपर उठनेवाली ऊर्मिमाला। ऊर्मिमाला दिखायी तो पड़ती है पर न दिखायी पड़नेवाली जल की गहराई के सामने वह कितनी नगण्य है!

(ख) विषय की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। अचेतन मन का विषय चेतन मन के विषय से भिन्न ही नहीं, प्रायः **विरुद्ध** भी होता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चेतन की सतह पर जो जैसा दीखता है, वह अचेतन में भी वैसा ही है।

(ग) चेतन के समान अचेतन मन भी पर्याप्त **गतिशील** है। अचेतन के लिए गोदाम या कबाड़खाने की उपमा इतने ही तक सही है कि अभिज्ञा की सीमा से हटी हुई स्मृतियाँ या विचार अचेतन में पड़े रहते हैं पर कबाड़खाने की चीजों की तरह वे अचल या निश्चेष्ट नहीं होते और न हमेशा वहाँ पड़े रहना चाहते हैं। तत्काल कोई उपयोग नहीं होने से वे वहाँ चले गये होते हैं पर अवसर पड़ने पर पूरे गति-वेग से, कभी-कभी विस्फोट के साथ, ऊपर आ जाते हैं।

(घ) अचेतन की अनेक विशेषताओं में प्रमुखतम है उसकी **यौनता।** फ्रायड के सिद्धान्तों में सबसे बढ़कर क्रान्तिकारी धारणा यौनता-सम्बन्धी है। संकलित आँकड़ों और तथ्यों का विश्लेषण कर फ्रायड ने यौनता-सम्बन्धी अग्रलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किये:

(i) सामान्य धारणा है कि यौन-भावना यौवनारम्भ के समय उत्पन्न होती है किन्तु यह भ्रम है। वस्तुतः यौन-भावना जन्म के तुरत बाद उत्पन्न हो जाती है। फ्रायड के अनुसार, दूध पीने के लिए जब बच्चा माँ का स्तन चूसता है, तब उसमें उसे यौन आनन्द आता है। इससे आगे जाकर फ्रायड ने यह भी कहा कि बच्चे की यौन-भावना पहलेपहल माँ के प्रति ही उद्दीप्त होती है और इसमें बहुत बार वह पिता को ही अपना प्रतिस्पर्धी मान बैठता है, किन्तु भय के कारण वह अपनी कामेच्छा की तृप्ति नहीं कर पाता और इसके चलते उसके मन में एक प्रकार की ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है जिसे 'ईडिपस ग्रन्थि'[1] कहते हैं। 'ईडिपस ग्रन्थि' बहुतों के जीवन में 'मनस्ताप'[2] (न्युरोसिस) का कारण बनती है, जिसका निराकरण नहीं होने से जीवन दुखी बना रहता है।

(ii) **यौन** और **जननिक** धारणाओं में स्पष्ट भेद है। प्रत्येक यौन धारणा अनिवार्यतः जननिक (जननेन्द्रिय से सम्बद्ध) हो ही, यह आवश्यक नहीं है। यौन शब्द अधिक व्यापक है और उससे अनेक ऐसे व्यापारों का बोध होता है जो जननिक नहीं भी हैं।[3]

(iii) यौनता से वह क्रियाकलाप अभिप्रेत है जिसके द्वारा शरीर के विभिन्न भागों से आनन्द की प्राप्ति होती है; बाद में उस क्रियाकलाप की परिणति सन्तानोत्पत्ति में होती है।

मनष्य में दो सहज, प्रबल और अनिवार्य प्रवृत्तियाँ होती हैं : एक **आत्म-परिरक्षण** की और दूसरी **प्रजनन** अर्थात् प्रजाति-परिरक्षण की। इनमें आत्म-

१. ईडिपस ग्रन्थि— ईडिपस नामक एक यूनानी था जिसने-अपने पिता को मार कर अपनी माँ से विवाह कर लिया। उसी के नाम पर इस ग्रन्थि का नामकरण हुआ है। ईडिपस ग्रन्थि का कारण है माँ के प्रति यौन आकर्षण और उसकी अतृप्ति।

२. मनस्ताप एक प्रकार का तन्त्रिकीय (नर्वस) रोग है जो जीवन में अतृप्ति, कुण्ठा या कसमायोजन (मैल-ऐडजस्टमेंट) के कारण उत्पन्न होता है। मनस्तापी की जीवन-दृष्टि विकृत और नैराश्यपूर्ण होती है। वह या तो परिस्थितियों का सामना करने से भागता है या दूसरों की भावना को जगाकर अपना लक्ष्य सिद्ध करता है।

३. इस अर्थ में 'यौन' के बदले हमारे यहाँ 'काम' शब्द प्रयुक्त होता है, जो अधिक उपयुक्त है।

परिरक्षण की प्रवृत्ति तो कभी ही कभी बाधित या कुण्ठित होती है किन्तु प्रजनन की प्रवृत्ति प्रायः कुण्ठित होती रहती है, क्योंकि सभ्यता का आडम्बर कामेच्छा की नैसर्गिक सन्तुष्टि में बाधक बनकर उसके दमन के लिए प्रेरित किया करता है। यौन ऊर्जा का यह सतत दमन मनुष्य की अनेक मनोग्रन्थियों और मानसिक रोगों का कारण बनता है। अतः इनसे बचने का एक ही उपाय है और वह है कामेच्छा या यौन-भावना की अबाध सन्तुष्टि।

विकास की लम्बी दूरी तयकर मनुष्य आज सभ्यता की जिस मंजिल पर पहुँचा है, वहाँ भी अपने प्राक्तन संस्कारों से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया है। उसमें पशु और आदिम मनुष्य के संस्कार भी वर्त्तमान हैं, भले ही सभ्यता के आवरण में वे स्पष्टतः दिखायी न देते हों। वे केवल प्रच्छन्न हैं, पर नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए मनुष्य के विचारों और कार्यों का विश्लेषण करते समय उन विशेषताओं पर भी ध्यान देना चाहिए जिन्हें उसने आनुवंशिक रूप में अपने पूर्वजों—पशुओं और आदिम मनुष्यों—से अर्जित किया है।

नैतिकता एक प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण या बन्धन है, जिसने मनुष्य के जीवन की स्वाभाविक गति को अवरुद्ध कर रखा है। दमित या अवरुद्ध भाव ही अचेतन में बैठे-बैठे कभी-कभी वैसे उपद्रव मचाते रहते हैं, जिन्हें समाज अनैतिक या अवांछनीय कहता है।

चेतन-अचेतन के सापेक्ष सम्बन्ध को जोड[1] ने एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। चेतन और अचेतन एक ही मकान की दो मंजिलों पर रहनेवाले दो परिवारों के समान हैं। ऊपरवाली मंजिल पर रहनेवाला 'चेतन' मन का परिवार सभ्य, शिष्ट, शान्त और अनुशासित है; वह सदा पड़ोसियों की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखता है, किसी के साथ अभद्र या अवांछित व्यवहार नहीं करता और हर तरह से अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा का प्रयास करता है। नीचेवाली मंजिल में 'अचेतन' का बड़ा परिवार है जो काफी बदनाम है। किसी समय इस (अचेतन) परिवार के अनेक सदस्य ऊपरवाली मंजिल के परिवार के ही अंग थे, किन्तु उस समाज में रहने के अयोग्य होने के कारण वहाँ से निकाल दिये गये और अब नीचे आकर रहने लगे हैं। ये

१. गाइड टु मॉडर्न थॉट : सी० ई० एम० जोड; पृ० २०४।

बड़े ही असभ्य, स्वार्थी और आवेशी हैं। इनका एकमात्र कार्य है अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि, जो मुख्यतः यौन हैं। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ये हमेशा ऊपरवाली मंजिल पर लौटना चाहते हैं, क्योंकि वहाँ विस्तृत क्षेत्र मिलने की आशा रहती है। ऊपरवाली मंजिल पर रहनेवाला परिवार इसे आतंक की दृष्टि से देखता है, अतः अपनी शान्ति और सुविधा के लिए उसने सीढ़ी के दरवाजे पर एक सन्तरी बैठा रखा है। इस सन्तरी का नाम **अवरोधक या सेंसर** है और काम है अचेतन-परिवार के किसी उपद्रवी तत्त्व को ऊपर आने से रोकना, जिसके आने से चेतन-परिवार की शान्ति में बाधा पड़ती है या लज्जा का अनुभव करना पड़ता है। बहुत बार 'सेंसर' अपने प्रयास में सफल रहता है और अचेतन-परिवार के किसी उच्छृंखल तत्त्व को ऊपर नहीं आने देता पर कभी-कभी उसकी सावधानी और चेष्टा के बावजूद कोई अचेतन तत्त्व ऊपर पहुँच जाता है। ऐसा होने पर 'सेंसर' एक काम करता है और वह यह कि ऊपर जाते समय वह उसका परिष्कार कर देता है, उसे शिष्ट समाज में बैठने के योग्य बना देता है। 'चेतन' की मंजिल पर पहुँचने के क्रम में 'अचेतन' का यह परिष्कार **उदात्तीकरण** (सब्लिमेशन) कहलाता है। उदात्तीकरण की प्रक्रिया से होकर गुजरनेवाली इच्छा का रूप एकदम बदल जाता है; वह असात्त्विक के बदले सात्त्विक दीखने लगती है। कभी-कभी उसका रूप इतना बदल जाता है कि कोई निपुण व्यक्ति ही उसे पहचान सकता है।

'सेंसर' के द्वारा लगातार दमित अचेतन इच्छाएँ अभिव्यक्ति का अवसर या मार्ग न पाकर, स्थिर हो जाती हैं और मनोग्रन्थि में बदल जाती हैं, जैसे प्रवाह अवरुद्ध हो जाने पर नदी का जल घिरकर दलदल बन जाता है। मनोग्रन्थि से बाद में उन्माद, अधीरता, मनस्ताप आदि रोग उत्पन्न होते हैं। फ्रायड का दावा है कि यदि मनोग्रन्थि के कारण को प्रकाश में ला दिया जाए और दमित इच्छाओं को सन्तुष्टि का अवसर मिल जाए, तो आधुनिक समाज में व्याप्त तन्त्रिकीय रोग (नर्वस डिज़ॉर्डर) आसानी से दूर किये जा सकते हैं। यह सिद्धान्त हमारे भाव, आवेग, आशा, आकांक्षा, राग और विराग के विषय में ही नहीं, बल्कि हमारे विश्वासों और विचारों के लिए भी सही है। इस दृष्टि से मनुष्य की कलाविषयक अभिरुचि या धर्मविषयक विश्वास भी उसके 'अचेतन' से उसी प्रकार निर्धारित होते हैं, जिस प्रकार नारी-सौन्दर्य के प्रति

आकर्षण। निष्कर्ष यह कि आचारशास्त्र तर्कबुद्धि की उपज न होकर, सामाजिक लाभ के लिए, मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को नियन्त्रण में रखने का साधनमात्र है। इसी प्रकार 'विवेक' (कॉन्शेन्स) एक सन्तरी है, जिसे भला-बुरा देखते रहने के लिए समाज ने व्यक्ति के हृदय में बैठा रखा है।

कला का महत्त्व इसमें है कि एक प्रकार के भ्रम का निर्माण कर वह यथार्थ की कटुता और असह्यता से हमें बचाती है। यह भ्रम रम्यकल्पना (फैन्टेसी) से उत्पन्न होता है। कलाकृतियों का आनन्द रम्यकल्पनाजनित आनन्दों में सबसे ऊपर है। इस भाँति कला एक प्रकार का हलका नशा है, जिससे जीवन की कठोरताओं से क्षणिक विराम मिलता है।

३. मनोविश्लेषण में 'अचेतन' के समान **स्वप्न** का भी बहुत महत्त्व है। फ्रायड पहला व्यक्ति है जिसने स्वप्न की अर्थवत्ता प्रदर्शित की है। उसका कहना है कि स्वप्न को अर्थहीन या आकस्मिक न मानकर, मनुष्य की दमित इच्छाओं और लालसाओं की अभिव्यक्ति मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, स्वप्न अपूर्ण इच्छा की पूर्ति या सन्तुष्टि का माध्यम है। अतः उसकी व्याख्या से अचेतन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण और उपादेय सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

४. मनोविश्लेषण में मन की **संरचना** दो प्रकार से मानी गयी है। एक के मूल में चेतन, पूर्वचेतन और अचेतन की धारणा है, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। दूसरी धारणा फ्रायड के सिद्धान्त के विकासक्रम में कई वर्ष बाद आयी। वह है इदम् (इड), अहम् (इगो) और अत्यहम् (सुपर-इगो)। कुछ दूर तक ये दोनों धारणाएँ परस्पर-संकीर्ण हैं और इनमें स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना सदा आसान नहीं है।

इदम् सहजप्रवृत्तियों का भण्डार और अचेतन होता है। मनुष्य जो कुछ आनुवंशिक रूप में प्राप्त करता है या जो कुछ उसके संघटन में वर्त्तमान रहता है, वह सब इदम् में संचित रहता है। बाह्य वस्तुस्थिति की बिना परवाह किये, इदम् के आवेग तात्कालिक सन्तुष्टि के लिए विकल रहते हैं।

अहम् बाह्य संसार और इदम् के बीच मध्यस्थ का काम करता है और चेतन होता है। वह सहजप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता है और बाह्य संसार की परिस्थिति की अनुकूलता-प्रतिकूलता को देखकर निर्णय करता है कि उनमें

किनकी और कब सन्तुष्टि हो। जो सहजप्रवृत्तियाँ सन्तुष्टि के योग्य नहीं होतीं, उनका वह सर्वथा दमन कर देता है। अहम् आनन्द का आग्रही होता है।

अत्यहम् का ही दूसरा नाम **विवेक** है। हमारे कार्यों और विचारों का समर्थन या खण्डन, प्रशंसा या निन्दा करना अत्यहंम् का व्यापार है। अत्यहम् भी अचेतन होता है।

संक्षेप में यों कहें कि इदम् और अत्यहम् में एक विशेषता उभयनिष्ठ है; दोनों अतीत के प्रभावों का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु इदम् पर आनुवंशिकता (हेरिडिटि) का प्रभाव रहता है और अत्यहम् पर दूसरों से जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका। अहम् का निर्धारण मनुष्य के अपने अनुभवों से होता है।

मनोविश्लेषण की उपर्युक्त चर्चा हमारे काम के लिए पर्याप्त है। शेष मान्यताएँ या विवरण अप्रासंगिक हैं।

समीक्षा

ऊपर मनोविश्लेषण की जो रूपरेखा दी गयी है, उसका विवेचन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

१. फ्रायड के अनुसार चेतन की सभी घटनाओं की उत्पत्ति या व्याख्या अचेतन पर आश्रित है। अतः हमारे चेतन विचार या इच्छाएँ हमारे अचेतन तत्त्वों के न्यूनाधिक विकृत या उदात्तीकृत प्रतिफलन हैं।

२. हमें अचेतन के क्रियाकलाप का ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान होता तो उसे 'अचेतन' कहते ही क्यों? चूँकि वह अचेतन है और हमें उसका ज्ञान नहीं है, इसलिए उसपर हमारा नियन्त्रण भी नहीं है।

३. जब न उसका हमें ज्ञान है और न उसपर हमारा नियन्त्रण है, तब उसके लिए हम उत्तरदायी भी नहीं हो सकते। फलतः अपने विचारों, इच्छाओं और कार्यों का भी उत्तरदायित्व हमपर नहीं है। हमारी स्थिति यन्त्र की है जिसे कोई दूसरा चलाता है। हम जो कुछ सोचते, चाहते या करते हैं, उसके पीछे मूलतः अचेतन का ही हाथ रहता है। इसलिए धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य से हम 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लिप्त हैं।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

इस आस्तिक वचन का फ्रायड अनुगामी है। अन्तर केवल इतना है कि वह 'देव' के आसन पर 'अचेतन' को बैठाये हुआ है।

४. मनोविश्लेषण में उद्देश्य या प्रयोजन का स्थान नहीं है। मनुष्य की स्थिति यन्त्र की है। वह स्वयं कुछ नहीं करता, उसके सारे कार्य एक अन्ध शक्ति से परिचालित और नियन्त्रित होते हैं। इसलिए उद्देश्य या प्रयोजन सामन रखकर कार्य करने का प्रश्न ही खण्डित हो जाता है। उद्देश्य की सार्थकता तो तब है, जब आचरण की स्वतन्त्रता हो। जब आचरण का नियामक दूसरा है, तब सामने उद्देश्य रखकर भी हम तदनुकूल आचरण नहीं कर पाएँगे। इसलिए उद्देश्य रखना और न रखना बराबर है।

५. उद्देश्य का खण्डन हो जाने से मानव-जीवन में सर्जकता का अवकाश नहीं रह जाता, क्योंकि उद्देश्य-निरपेक्ष सर्जकता सम्भव ही नहीं है। कोई कुछ भी बनाता है, तो किसी उद्देश्य से ही। बच्चे मिट्टी या धूल का घरौंदा भी बनाते हैं, जो सृष्टि-विधान में नगण्य वस्तु है, तो उसके पीछे भी उनका उद्देश्य रहता है। सर्जकता की जड़ कट जाने पर मानव-प्रगति का आधार ही उन्मूलित हो जाता है। आज तक जो प्रगति हुई है, वह क्या सर्वथा यान्त्रिक है ?

६. यद्यपि फ्रायड इस आरोप को स्वीकार नहीं करता किन्तु तथ्य यही है कि मनोविश्लेषण में नैतिक और आध्यात्मिक पक्षों की उपेक्षा है। ऊपर मनोविश्लेषण की मान्यताओं की जो मीमांसा हमने की है, उससे स्पष्ट है कि प्रचलित अर्थ में नैतिकता या आध्यात्मिकता का उसमें कोई अवकाश नहीं है। और, उच्चतर मूल्यों का अपलाप हो जाने पर मनुष्य और पशु का भेद लुप्त हो जाता है।

७. चिकित्साविज्ञान की दृष्टि से मनोविश्लेषण की त्रटि यह है कि वह अपूर्ण चिकित्सा पर बल देता है। चिकित्सा को पूर्ण तब कहेंगे, जब उसमें शरीर और मन, दोनों पर समान ध्यान दिया जाए। शरीर के रोग से मन अनिवार्यतः प्रभावित होता है; वैसे ही मन के रोग का प्रभाव भी शरीर पर निश्चित पड़ता है। ऐसी स्थिति में शरीर की उपेक्षा कर केवल मानसिक चिकित्सा को साध्य मानना व्यावहारिक दृष्टि से अयुक्त है।

• व्यष्टि-मनोविज्ञान : ऐडलर

व्यष्टि-मनोविज्ञान या वैयक्तिक मनोविज्ञान का प्रतिष्ठापक अल्फ्रेड

ऐडलर है। फ्रायड के समान ऐडलर भी यहूदी था। उसका जन्म विएना में १७ फरवरी, १८७० ई० को हुआ था। उसने चिकित्साविज्ञान का अध्ययन करने के बाद १९०२ ई० में फ्रायड के प्रमुख सहयोगी के रूप में कार्य करना आरम्भ किया। धीरे-धीरे दोनों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद इतना बढ़ गया कि १९११ ई० में ऐडलर ने अलग होकर अपना पृथक् सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। १९३५ ई० में वह संयुक्त राज्य अमेरिका में बस गया, क्योंकि वहाँ उसके सिद्धान्त का बड़ा मान और स्वागत हुआ। एक भाषण-यात्रा के सिलसिले में जब वह स्कॉटलैंड गया था, तब एबर्डीन में २८ मई, १९३७ ई० को उसकी मृत्यु हुई।

मान्यताएँ

१. जहाँ फ्रायड **यौन-भावना** को जीवन की केन्द्रीय प्रेरणा-शक्ति मानता है, वहाँ ऐडलर **अधिकार-भावना** को। उसका कहना है कि मनुष्य को तीन क्षेत्रों में प्रमुख समायोजन करने पड़ते हैं और वे हैं **समाज, कार्य** तथा **प्रेम।** इस त्रिविध समायोजन में बचपन के अनुभव साधक या बाधक बनते हैं। प्रत्येक शिशु असहाय रूप में जन्म लेता है। उसे जीवन-धारण से लेकर प्रत्येक योगक्षेम के लिए दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। इस तरह पग-पग पर उसे अपनी असहायता का बोध होता है। उसकी असहायता की भावना तीन प्रकार से और भी तीव्र हो जाती है: (क) अनुचित **व्यवहार** से; (ख) विषम **परिस्थिति** से एवं (ग) **आंगिक हीनता** से। अनुचित व्यवहार कई तरह के हो सकते हैं; जैसे—डाँट-फटकार, व्यंग्य, पक्षपात, कठोरता, भर्त्सना, अधिक दुलार आदि। इसी भाँति परिस्थिति की विषमता भी अनेक रूप ग्रहण करती है; जैसे—बच्चा एक ही हो या अनाथ हो या पिता की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुआ हो या विमाता के संरक्षण में हो या कई लड़कियों के बाद का लड़का हो। आंगिक हीनता से अभिप्राय यह है कि अंग की संरचना या क्रिया में कोई गड़बड़ी हो; जैसे—बच्चा लूला, लँगड़ा, अन्धा, बहरा, काना, नाटा, मोटा, दुबला आदि हो। इन बातों का बच्चे के मन पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है, उसमें अपने प्रति हीनता की भावना उत्पन्न होती है और अपनी योग्यता में अनास्था हो जाती है। फलतः विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन करने में वह अपने को असमर्थ पाता है और बार-बार की कुण्ठा

तथा असफलता के कारण मनस्ताप का शिकार बनता है। अतः मनस्ताप के निदान और चिकित्सा के लिए बचपन का इतिहास जानना अनिवार्य है। उसे जानकर ही कहा जा सकता है कि अस्वास्थ्य का कारण क्या और कैसा है।

२. असहायता की भावना की प्रतिक्रिया तीन रूपों में व्यक्त हो सकती है :

(क) सफल **क्षतिपूर्ति**।

(ख) पराजय और उसके कारण आत्मकेन्द्रित हो जाना या **कर्म से** ही **विमुख** हो जाना।

(ग) समझौता अथवा **अतिक्षतिपूर्ति**।

इनमें प्रथम प्रतिक्रिया व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से निरापद और लाभकर है। एक दिशा में शक्ति तथा ऊर्जा (एनर्जी) का प्रवाह अवरुद्ध होकर दूसरी दिशा में उत्कर्ष का साधक बनता है। यही सफल **क्षतिपूर्ति** है। जैसे, देखा जाता है कि नेत्रहीन या विकलांग व्यक्ति संगीत, कविता या कला के किसी अन्य क्षेत्र में विमुग्धकारी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सूरदास इसके अच्छे उदाहरण हैं। दूसरी कोटि के उदाहरण सर्वत्र पाये जाते हैं। ऐसे लोगों की असहायता निराशा और अकर्मण्यता में परिणत होकर, उन्हें आत्मकेन्द्रित बना देती है। तीसरी कोटि में वैसे लोग आते हैं जो अपनी असहायता या हीनता से समझौता कर लेते हैं और मान लेते हैं कि उनकी त्रुटियाँ शारीरिक सीमाओं का परिणाम हैं। अतिक्षतिपूर्तिवाले उदाहरण पर्याप्त सुलभ हैं। जैसे, दुबला-पतला आदमी ऐसे कामों में उत्साह दिखाता है, जो उसे बलवान् प्रमाणित करें; अयोग्य व्यक्ति प्रायः हठी और दुराग्रही होता है; रूपहीन स्त्री अतिशय साज-शृंगार के द्वारा अपनी अनाकर्षकता को छिपाने का प्रयास करती है। यह क्षतिपूर्ति सन्तुलित न होकर प्रायः अतिरंजित हो जाती है; इसीलिए इसे अतिक्षतिपूर्ति कहते हैं जो मनस्ताप का लक्षण है। जहाँ सफल क्षतिपूर्तिवाला व्यक्ति सामान्य (नॉर्मल) होता है, वहाँ अतिक्षतिपूर्तिवाला व्यक्ति अपसामान्य (एब-नॉर्मल), अतः सामाजिक दृष्टि से आलोचना का पात्र। क्षतिपूर्ति का वही रूप वांछनीय है, जो किसी न्यूनता या अक्षमता को केवल दूर कर दे; इससे आगे कुछ नहीं।

३. ऐडलर के अनुसार मनुष्य के निर्माण या विकास में सबसे अधिक

महत्त्व समाज का है। वस्तुतः व्यक्ति का समाज-निरपेक्ष अस्तित्व सम्भव नहीं है। उसका सम्पूर्ण जीवन, सारी समस्याएँ, समग्र एषणाएँ, प्रेरणाएँ तथा सन्तुष्टियाँ समाज-सापेक्ष हैं। अतः **सामाजिक समायोजन** सबसे अधिक आवश्यक है। सामाजिक समायोजन का आरम्भ परिवार से होता है, क्योंकि परिवार समाज का लघुतम रूप है। फलतः व्यक्ति की 'जीवन-पद्धति' (लाइफ-स्टाइल) को समझने के लिए उसकी 'पारिवारिक पद्धति' (फेमिली-स्टाइल) की जानकारी जरूरी है। 'जीवन-पद्धति' शब्द का प्रयोग ऐडलर ने मनुष्य के आचार, विचार, व्यवहार सबके समुदित रूप के लिए किया है। जिसकी जीवन-पद्धति सन्तुलित है, उसे समायोजन में कठिनाई नहीं होती; उसके लिए आरम्भ में पारिवारिक समायोजन भी सुकर होता है और बाद में सामाजिक समायोजन भी। स्वाभाविक विकास का अर्थ है 'अहं-भावना' और 'समुदाय-भावना' का पूर्ण समन्वय तथा सन्तुलन। मनस्तापी में इसी का अभाव रहता है। वह 'समुदाय-भावना' से अधिक 'अहं-भावना' को प्रश्रय देता है और इस असन्तुलन के चलते मानसिक रुग्णता का शिकार बनता है।

तात्पर्य यह कि व्यष्टि-मनोविज्ञान में मनस्तापी वह व्यक्ति है जिसे बचपन में अनुचित तनावों का सामना करना पड़ा है और जिसके कारण उसकी 'जीवन-पद्धति' रुग्ण हो गयी है।

४. ऐडलर प्रत्येक व्याधि के मूल में तीन कारण मानता है : **संरचनात्मक, क्रियात्मक** तथा **मानसिक**। संरचनात्मक से तात्पर्य आंगिक विकृति या हीनता से है; जैसे—लूला, लँगड़ा, अन्धा, बहरा आदि। क्रियात्मक कारण में अंगों की स्वाभाविक क्रिया की बाधा आती है। जैसे, दर्द के कारण हाथ मोड़ने या पैर उठाने में कठिनाई होती हो। मानसिक कारण का सम्बन्ध चिन्ता, आशंका, भय आदि भावों से है। मनस्ताप के ठीक-ठीक निदान के लिए रुग्णता की प्रकृति या स्थल का निर्धारण आवश्यक है। ऐडलर के अनुसार मनस्ताप में मानसिक कारण का केवल प्राधान्य होता है, पर वही एकमात्र कारण नहीं होता; अल्पाधिक मात्रा में उपर्युक्त तीनों कारण मिले रहते हैं। इस अंश में फ्रायड की अपेक्षा ऐडलर की दृष्टि अधिक व्यापक है, क्योंकि फ्रायड केवल मानसिक कारण पर बल देता है।

५. ऐडलर का कहना है कि मनुष्य के **व्यक्तित्व** या **चरित्र** के निर्माण में अनेक तत्त्वों का मिश्रण रहता है; जैसे—शारीरिक संरचना; पारिवारिक,

आर्थिक, शैक्षिक परिस्थितियाँ; लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के प्रयत्न आदि। ऐडलर जन्मजात प्रतिभा अथवा वैशिष्ट्य जैसी कोई चीज नहीं मानता। वह व्यक्तित्व के निर्माण और विकास को **परिवेश** तथा **वातावरण** का परिणाम मानता है।

६. मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं के निर्धारण में उसकी **सम्मति** या **विचार** का बहुत अधिक हाथ होता है, चाहे वह अपने विषय में हो, चाहे दूसरों के विषय में। तात्पर्य यह कि कोई खुद अपने बारे में या दूसरों के बारे में क्या सोचता है, इससे उसकी मानसिक प्रक्रियाएँ ही नहीं, प्रतिक्रियाएँ भी निर्धारित होती हैं। इसी तरह उसके बारे में दूसरों की सम्मति क्या है, इसका भी उसपर जोरदार प्रभाव पड़ता है।

७. सामान्य (नॉर्मल) व्यक्ति की सामाजिक रुचि विकसित होती है; अतः जीवन में वह अधिक सफल होता है, क्योंकि अपनी सामाजिकता के कारण वह आसानी से आवश्यकताओं की पूर्ति कर-करा सकता है। इसके प्रतिकूल हीनता-ग्रन्थि के कारण मनस्तापी हमेशा समाज से भागता है। परिणामतः उसकी सामाजिकता अविकसित या अल्पविकसित रह जाती है, जिससे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सदा बाधा पड़ती है और वह जीवन-संघर्ष में पीछे रह जाता है।

८. व्यष्टि-मनोविज्ञान के अनुसार हीनता-ग्रन्थि को दूर किये बिना जीवन में सफलता सम्भव नहीं है। उसे दूर करने का उपाय है वास्तविक स्थिति का परिज्ञान और गलत जीवन-पद्धति का परित्याग। इसी में चिकित्सक की सहायता की जरूरत पड़ती है। वह हीनता-ग्रन्थि के कारणों को ढूँढ़ता है, अर्थात् देखता है कि किस कुसमायोजन से हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हुई है; उससे रोगी को अवगत कराता है, उसमें साहस और आशावाद जगाता है और इस प्रकार हीनता-ग्रन्थि को दूर कर मनस्ताप को उन्मूलित करता है। तात्पर्य कि हीनता-ग्रन्थि को हटाने के लिए **प्रोत्साहन** और **सामाजिकता** अनिवार्य हैं।

मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद और अचेतन के सम्बन्ध में फ्रायड तथा ऐडलर सामान्यतः सहमत हैं। मतभेद के स्थल निम्नलिखित हैं:

१. फ्रायड के अनुसार **मनस्ताप** केवल **मन** की विकृति है, किन्तु ऐडलर के अनुसार **पुरे व्यक्तित्व** की।

२. फ्रायड के लिए जीवन की मूल प्रेरणा **यौन-भावना** है, पर ऐडलर के

लिए अधिकार-भावना।

३. फ्रायड ने मनस्ताप के मूल में **यौन** कारणों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है, परन्तु ऐडलर ने **यौनेतर** कारणों का भी महत्त्व माना है।

स्पष्ट है कि ऐडलर का सिद्धान्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक है। उसने यौनता को जीवन में मर्यादित स्थान दिया है, फ्रायड की तरह अतिरंजित नहीं। उसने **व्यक्तित्व** को **पूर्ण इकाई** के रूप में प्रस्तुत किया है और सांस्कृतिक तत्त्वों का महत्त्व स्वीकार किया है। ये ही कारण हैं जिनसे उसे जैसी निर्विरोध लोकप्रियता मिली, वैसी फ्रायड को नहीं।

यद्यपि ऐडलर ने अपने सिद्धान्त का नाम व्यष्टि-मनोविज्ञान या वैयक्तिक मनोविज्ञान रखा, पर उसमें प्रधानता सामाजिक पक्ष की ही है, क्योंकि वह व्यक्ति या व्यक्ति की समस्याओं को सदा समाज के परिवेश में रखकर देखता है और जीवन की सफलता का आधार सामाजिक समायोजन को ही स्वीकार करता है।

विश्लेषक मनोविज्ञान : युंग

कार्ल गुस्ताफ़ युंग का जन्म २६ जुलाई, १८७५ ई० को बासेल (स्विट-जरलैंड) में हुआ। उसने बासेल विश्वविद्यालय से चिकित्सा-विज्ञान में उपाधि ली और १९०० ई० में मनश्चिकित्सक के रूप में कार्य आरम्भ किया। १९०७ ई० में फ्रायड से उसकी मुलाकात हुई। फ्रायड से प्रभावित होकर वह उसका सहयोगी हो गया। बाद में उसने 'विश्लेषक मनोविज्ञान' के नाम से एक भिन्न शाखा प्रवर्तित की। कई वर्षों तक वह बासेल और त्सूरिख़ (ज़ूरिख़) विश्वविद्यालयों में चिकित्सापरक मनोविज्ञान का प्रोफेसर रहा।

युंग के सिद्धान्त मनोविज्ञान से अधिक दर्शन के अन्तर्गत आते हैं, अतः फ्रायड से अधिक वह फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसों के निकट है।

मान्यताएँ

१. फ्रायड के समान युंग भी मानता है कि चेतन की तुलना में अचेतन का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अचेतन के स्वरूप को लेकर दोनों में भेद है। फ्रायड के अचेतन का निर्माण दमित सामग्री से हुआ है, अर्थात् जिस सामग्री का उपयोग चेतन नहीं कर पाता, वह दमित

होकर अचेतन के गह्वर में संचित होती जाती है। युंग का कहना है कि अचेतन में वैसे तत्त्व भी वर्त्तमान रहते हैं, जो व्यक्तिगत अनुभव की सीमा में कभी आते ही नहीं, वस्तुतः जो कभी चेतन रहे ही नहीं, बल्कि पुरातन और सर्वव्यापी हैं। इसके लिए युंग ने **प्रजातीय स्मृति** (रेशियल मेमरी) की कल्पना की है। वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार का आदिम अचेतन (प्रिमिटिव अन्कॉन्शस) रहता है जो विश्वव्यापी, निर्वैयक्तिक, सामूहिक तथा पुरातन हुआ करता है और जिसमें मानव-मन के सभी सम्भव गुण—भले-बुरे, उत्तम-अधम, दैवी-आसुरी—वर्त्तमान हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति का विकास होता है, वैसे-वैसे इस निर्वैयक्तिक 'अचेतन' के कुछ तत्त्व 'चेतन' बन जाते हैं और 'चेतन' के विस्तार के साथ आदिम अचेतन का अधिक-से-अधिक अंश ऊपर आ जाता है।

युंग की अचेतन-विषयक धारणा का स्पष्टीकरण यों है:

(क) मनुष्य के अचेतन में केवल **दमित** इच्छाएँ ही नहीं, बल्कि मानसिक जीवन के वे पक्ष भी संचित हैं जो विकास के क्रम में **उपेक्षित** रह गये हैं।

(ख) उसमें वैसे वैयक्तिक अनुभव और विचार भी संचित हैं, जो काम में न आने से **विस्मृत** हो गये हैं। मनुष्य के सभी अनुभव और विचार प्रतिदिन काम में थोड़े ही आते हैं? जो काम में आते हैं, वे तो याद रहते हैं और जो काम में नहीं आते, वे विस्मृत हो जाते हैं। स्मृतिपथ से उतरे हुए ऐसे विचार अचेतन में संचित होते जाते हैं।

(ग) युंगीय मनोविज्ञान में अचेतन के दो भाग हैं: एक **वैयक्तिक** और दूसरा **प्रजातीय**। वैयक्तिक अचेतन सम्पूर्ण अचेतन का अपेक्षाकृत नगण्य अंश है। वैयक्तिक अचेतन के नीचे जो भाग है, वह प्रजातीय अथवा सामूहिक अचेतन है क्योंकि उसमें प्रजाति (रेस) के सामूहिक विश्वास और मिथक संचित रहते हैं। सामूहिक अचेतन का जो गम्भीरतम तल है, उसे ही युंग विश्वव्यापी अचेतन कहता है; वह सम्पूर्ण मानवजाति में व्याप्त है। इस तरह युंग के अनुसार मन के तीन स्तर होते हैं: **चेतन, वैयक्तिक अचेतन** और **प्रजातीय अचेतन**।

२. प्रजातीय अचेतन प्रजातीय दाय (रेशियल हेरिटेज) का संग्रह या धरोहर है। प्रजातीय अचेतन की रचना कई तहों की है। उसकी पहली और बुनियादी तह में **पशु-जीवन** का अवशेष है; उसके ऊपर **आदिम**

लिए अधिकार-भावना।

३. फ्रायड ने मनस्ताप के मूल में **यौन** कारणों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है, परन्तु ऐडलर ने **यौनेतर** कारणों का भी महत्त्व माना है।

स्पष्ट है कि ऐडलर का सिद्धान्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक है। उसने यौनता को जीवन में मर्यादित स्थान दिया है, फ्रायड की तरह अतिरंजित नहीं। उसने **व्यक्तित्व** को **पूर्ण इकाई** के रूप में प्रस्तुत किया है और सांस्कृतिक तत्त्वों का महत्त्व स्वीकार किया है। ये ही कारण हैं जिनसे उसे जैसी निर्विरोध लोकप्रियता मिली, वैसी फ्रायड को नहीं।

यद्यपि ऐडलर ने अपने सिद्धान्त का नाम व्यष्टि-मनोविज्ञान या वैयक्तिक मनोविज्ञान रखा, पर उसमें प्रधानता सामाजिक पक्ष की ही है, क्योंकि वह व्यक्ति या व्यक्ति की समस्याओं को सदा समाज के परिवेश में रखकर देखता है और जीवन की सफलता का आधार सामाजिक समायोजन को ही स्वीकार करता है।

विश्लेषक मनोविज्ञान : युंग

कार्ल गुस्ताफ़ युंग का जन्म २६ जुलाई, १८७५ ई० को बासेल (स्विटजरलैंड) में हुआ। उसने बासेल विश्वविद्यालय से चिकित्सा-विज्ञान में उपाधि ली और १९०० ई० में मनश्चिकित्सक के रूप में कार्य आरम्भ किया। १९०७ ई० में फ्रायड से उसकी मुलाकात हुई। फ्रायड से प्रभावित होकर वह उसका सहयोगी हो गया। बाद में उसने 'विश्लेषक मनोविज्ञान' के नाम से एक भिन्न शाखा प्रवर्तित की। कई वर्षों तक वह बासेल और त्सूरिख़ (ज़ूरिख़) विश्वविद्यालयों में चिकित्सापरक मनोविज्ञान का प्रोफेसर रहा।

युंग के सिद्धान्त मनोविज्ञान से अधिक दर्शन के अन्तर्गत आते हैं, अतः फ्रायड से अधिक वह फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसों के निकट है।

मान्यताएँ

१. फ्रायड के समान युंग भी मानता है कि चेतन की तुलना में अचेतन का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अचेतन के स्वरूप को लेकर दोनों में भेद है। फ्रायड के अचेतन का निर्माण दमित सामग्री से हुआ है, अर्थात् जिस सामग्री का उपयोग चेतन नहीं कर पाता, वह दमित

होकर अचेतन के गह्वर में संचित होती जाती है। युंग का कहना है कि अचेतन में वैसे तत्त्व भी वर्त्तमान रहते हैं, जो व्यक्तिगत अनुभव की सीमा में कभी आते ही नहीं, वस्तुतः जो कभी चेतन रहे ही नहीं, बल्कि पुरातन और सर्वव्यापी हैं। इसके लिए युंग ने **प्रजातीय स्मृति** (रेशियल मेमरी) की कल्पना की है। वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार का आदिम अचेतन (प्रिमिटिव अन्कॉन्शस) रहता है जो विश्वव्यापी, निर्वैयक्तिक, सामूहिक तथा पुरातन हुआ करता है और जिसमें मानव-मन के सभी सम्भव गुण—भले-बुरे, उत्तम-अधम, दैवी-आसुरी—वर्त्तमान हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति का विकास होता है, वैसे-वैसे इस निर्वैयक्तिक 'अचेतन' के कुछ तत्त्व 'चेतन' बन जाते हैं और 'चेतन' के विस्तार के साथ आदिम अचेतन का अधिक-से-अधिक अंश ऊपर आ जाता है।

युंग की अचेतन-विषयक धारणा का स्पष्टीकरण यों है :

(क) मनुष्य के अचेतन में केवल **दमित** इच्छाएँ ही नहीं, बल्कि मानसिक जीवन के वे पक्ष भी संचित हैं जो विकास के क्रम में **उपेक्षित** रह गये हैं।

(ख) उसमें वैसे वैयक्तिक अनुभव और विचार भी संचित हैं, जो काम में न आने से **विस्मृत** हो गये हैं। मनुष्य के सभी अनुभव और विचार प्रतिदिन काम में थोड़े ही आते हैं? जो काम में आते हैं, वे तो याद रहते हैं और जो काम में नहीं आते, वे विस्मृत हो जाते हैं। स्मृतिपथ से उतरे हुए ऐसे विचार अचेतन में संचित होते जाते हैं।

(ग) युंगीय मनोविज्ञान में अचेतन के दो भाग हैं : एक **वैयक्तिक** और दूसरा **प्रजातीय**। वैयक्तिक अचेतन सम्पूर्ण अचेतन का अपेक्षाकृत नगण्य अंश है। वैयक्तिक अचेतन के नीचे जो भाग है, वह प्रजातीय अथवा सामूहिक अचेतन है क्योंकि उसमें प्रजाति (रेस) के सामूहिक विश्वास और मिथक संचित रहते हैं। सामूहिक अचेतन का जो गम्भीरतम तल है, उसे ही युंग विश्वव्यापी अचेतन कहता है; वह सम्पूर्ण मानवजाति में व्याप्त है। इस तरह युंग के अनुसार मन के तीन स्तर होते हैं : **चेतन, वैयक्तिक अचेतन** और **प्रजातीय अचेतन**।

२. प्रजातीय अचेतन प्रजातीय दाय (रेशियल हेरिटेज) का संग्रह या धरोहर है। प्रजातीय अचेतन की रचना कई तहों की है। उसकी पहली और बुनियादी तह में **पशु-जीवन** का अवशेष है; उसके ऊपर **आदिम**

पूर्वजों के संस्कार की तह है; उसके ऊपर **मानवजातिविज्ञानात्मक** (एथ्नोलॉजिकल) समूहों (आर्य, मंगोल प्रभृति) की तह है; फिर **राष्ट्र** की, उसके ऊपर **कुल** की और सबके ऊपर **परिवार** की तह है। तात्पर्य कि प्रत्येक मनुष्य के मन में अचेतन भाव से दूरस्थ पूर्वजों (पशुओं) से लेकर अव्यवहित पूर्वजों (माता-पिता) तक के संस्कार वर्त्तमान रहते हैं। इसी को युंग **प्रजातीय स्मृति** कहता है।

३. इस प्रजातीय अचेतन में मनुष्य का समस्त **सहजप्रवृत्तिक** (इंस्टिक्चुअल) जीवन समाविष्ट है। प्रत्येक पूर्वज की जीवाणु-कोशिकाएँ (जर्म सेल्स) उसके वंशजों में आती गयी हैं। अतः प्रथम पूर्वज से लेकर आज तक जीवाणु-कोशिकाओं के संक्रमण का अविच्छिन्न क्रम बना हुआ है। इन कोशिकाओं ने केवल अंग-रचना का ही कार्य नहीं किया है, बल्कि ये अपने साथ पूर्वजों के **अनुभव** तथा **प्रतिक्रिया-प्रणाली** की छाप भी लेती आयी हैं जो प्रजातीय अचेतन में सुरक्षित है। इस प्रकार प्रजातीय अचेतन, जो हम सबमें वर्त्तमान है, सृष्टि के आरम्भ से आज तक के संस्कारों की सुदीर्घ परम्परा का संग्रहालय है। इसलिए नवजात शिशु के अचेतन में कुछ भी वैयक्तिक नहीं रहता, केवल जातिविकासात्मक (फ़िलोजेनेटिक) सामग्री का संकलन रहता है। इसी में देव, असुर, प्रेत आदि प्राकृतिक शक्तियों की व्याख्याएँ और पुराणविज्ञान (जिसमें इन प्राकृतिक शक्तियों का ताना-बाना अन्तर्ग्रथित रहता है और जो सारे संसार के मानवसमाज में सुसंगत ढंग से दिखायी देता है) निहित हैं। इन अचेतन विचारों को युंग **आद्यप्ररूप** या **मूलप्ररूप** (**आर्किटाइप**) कहता है।

४. जिस तरह वैयक्तिक अचेतन की अभिव्यक्ति चेतन में हुआ करती है, उसी तरह 'प्रजातीय अचेतन' की **स्वप्न** में।

५. युंग के अनुसार काम (लिबिडो) आदिम, सार्वभौम तथा परिवर्तनशील जीवन-शक्ति है। 'यौनता' की तुलना में 'काम' अधिक व्यापक है, क्योंकि वह सामान्य वस्तुनिष्ठ अभिरुचि का बोधक है। युंग ने 'काम' के परिवर्तनों पर विस्तार से विचार किया है और सम्प्रदाय-विशेष या लोक-साहित्य में पाये जानेवाले प्रतीकों द्वारा मानवविज्ञान एवं पुराणविज्ञान में उसकी स्थिति दिखायी है। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'अहम्' के समान 'परहितवाद' भी मनुष्य का सहज धर्म है।

६. बिना किसी बाहरी दबाव या प्रतिक्रिया के, स्वयं व्यक्ति में, मानसिक संघर्ष की सम्भावना को युंग स्वीकार करता है। इसके प्रतिकूल फ्रायड यह मानता है कि वास्तविक संघर्ष अचेतनस्थित यौन-भावना और चेतन के सामाजिकीकृत प्रतिमानों के बीच हुआ करता है। तात्पर्य यह कि युंग के अनुसार मानसिक संघर्ष **व्यक्तिनिष्ठ** होता है और फ्रायड के अनुसार **समाज-सापेक्ष**, क्योंकि फ्रायड मानता है कि जब तक दमित इच्छाओं का समाज के नैतिक मूल्यों से विरोध नहीं होता, तब तक मानसिक संघर्ष की स्थिति नहीं आती। युंग के मत में बाहरी विरोध आवश्यक नहीं है, मानसिक संघर्ष व्यक्ति में आप-से-आप भी उत्पन्न हो सकता है।

७. १९१४ ई० में युंग ने दो मनोवैज्ञानिक प्रकारों का निरूपण किया जिन्हें उसने **बहिर्मुखी** और **अन्तर्मुखी** कहा। इस निरूपण के अनुसार बहिर्मुखी की प्रवृत्ति वस्तुनिष्ठ अर्थात् बाहर की ओर होती है और अन्तर्मुखी की आत्मनिष्ठ अर्थात् भीतर की ओर। बहिर्मुखी चाहता है कि दूसरे उसी के अनुसार सोचें और चलें; अन्तर्मुखी आत्मकेन्द्रित और तटस्थ होता है। बहिर्मुखी में आत्मविश्वास अधिक होता है; अन्तर्मुखी में कम। बहिर्मुखी प्रचार-प्रिय होता है और दूसरों के सामने अधिक अच्छा काम करता है; इसके प्रतिकूल अन्तर्मुखी दूसरों के सामने कुण्ठित हो जाता है और एकान्त में ही अधिक अच्छा काम कर पाता है। बहिर्मुखी आशावादी, उत्साही और सामाजिक होता है; अन्तर्मुखी निराशावादी, संकोची और असामाजिक। बहिर्मुखी में क्रियाशीलता रहती है; अन्तर्मुखी में चिन्तनशीलता। बहिर्मुखी अन्तर्मुखी को अहंकारी और नीरस समझता है; अन्तर्मुखी बहिर्मुखी को छिछला और दम्भी।

मनोवैज्ञानिक प्रकारों का यह विभाजन युंग ने मुख्यतः **चेतन के स्तर पर** किया है। कोई मनुष्य बहिर्मुखी अथवा अन्तर्मुखी है, इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी चेतन प्रवृत्ति दोनों में से किसी एक प्रकार की है। किन्तु अचेतन रूप में दोनों एक-दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकते हैं। सन्तुलित व्यक्तित्व में दोनों का रहना जरूरी है, पर होता ऐसा है कि एक प्रवृत्ति दब जाती है, दूसरी उभर आती है और वह आजीवन वैसी ही बनी रह जाती है।

८. इन दो प्रमुख प्रकारों के बाद मानसिक व्यापार की प्रधानता के आधार पर युंग ने चार उपप्रकारों या उपविभागों की कल्पना की है। वे मानसिक व्यापार हैं **चिन्तन, भावना, अन्तःप्रज्ञा, संवेदन**, जो न्यूनाधिक मात्रा में

युंग के मत में प्रतीक सामान्य की ओर से विशेष को लक्षित नहीं करता, बल्कि विशेषीकृत प्रतीक से ही सामान्यीकृत विचार लक्षित होता है।

ऊपर हमने तीनों मनोविज्ञानियों के सिद्धान्तों का संक्षेप में विवेचन किया है। इसे देखने से स्पष्ट है कि पारस्परिक मतभेद रहते हुए भी कुछ बातों में उनमें ऐकमत्य है। जैसे **मानसिक नियतत्ववाद** को तीनों मानते हैं और **अचेतन** का महत्त्व तीनों स्वीकार करते हैं।

अलग-अलग, और सामूहिक रूप से भी, उनके सिद्धान्तों का समसामयिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उन प्रभावों को चार शीर्षकों में बाँट सकते हैं: (क) **सन्देहवाद;** (ख) **प्रतिसत्तावाद** (ऐंटी-ओथोरिटेरियनिज़्म); (ग) **नियतिवाद;** (घ) **भोगवाद।** इन्हें मनोविश्लेषण ने उत्पन्न भले ही नहीं किया हो, पर प्रोत्साहित अवश्य किया है।

फ्रायड ने तर्कबुद्धि का जो रूप प्रस्तुत किया है, उसकी सहज परिणति **सन्देहवाद** है। यदि तर्कबुद्धि (रीज़न) सहजप्रवृत्तियों (इंस्टिंक्ट) का उपकरणमात्र है, तो उससे सत्य की उपलब्धि की सम्भावना क्षीण हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अचेतन से जिन विचारों और विश्वासों की उत्पत्ति होगी, उनकी सत्यता सदा सन्दिग्ध रहेगी। वे विचार और विश्वास मान्य हैं या अमान्य, इसका निर्णय भी कौन करे, क्योंकि हमारी समस्त मानसिक प्रक्रिया तथा क्रियाकलाप का परिचालन और नियमन तो अचेतन के ही द्वारा होता है! वस्तुतः मनोविश्लेषण का अनिवार्य उपप्रमेय (कोरोलरी) अविवेकित्ववाद (इर्रैशनलिज़्म) है, कारण कि अचेतन से अविवेक का सहज सम्बन्ध है।

व्यष्टि-मनोविज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है कि अधिकार-भावना जीवन की मूल प्रेरणा है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों पर अधिकार जमाना चाहता है। 'राजाओं का दैवी अधिकार', कानून की अलंघ्यता, पिता-माता का शासन आदि इस अधिकार-भावना के ही उदात्तीकृत रूप हैं, जिन्हें समाज ने स्वीकार कर लिया है। दरअसल ये सब दूसरों को अपने मातहत रखने के हथकण्डे हैं। अतः जब मनोविज्ञान ने उस अधिकार-भावना का रहस्य खोल दिया, तब उसका आधार कमजोर पड़ गया, आज्ञापालन का औचित्य उन्मूलित हो गया। इसीलिए आज सत्ता का सर्वत्र विरोध—**प्रतिसत्तावाद**—देखा जा रहा है; केवल राजाओं, पुरोहितों या शासकों की सत्ता का ही नहीं

विशेषज्ञों, विज्ञानियों, सुधारकों, नेताओं और शिक्षकों की सत्ता का भी।

विवेक और चेतन का खण्डन कर देने पर कर्म-स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, जब हम कोई काम स्वयं, सचेत भाव से, करते ही नहीं, जब हमसे सब कुछ यन्त्रवत् कराया जाता है, तब न हम उन कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं, न उनमें परिवर्तन कर सकते हैं। हम चाहें या न चाहें, जो जैसा हो रहा है, वैसा होगा ही। ऐसी स्थिति में आशा और प्रयास, दोनों निरर्थक हो जाते हैं और मनुष्य को लाचार हो **नियति-वादी** बन जाना पड़ता है। यदि हमारे किये कुछ होने ही को नहीं, तो क्यों हाथ-पैर पटकें ?

भोगवाद का सीधा सम्बन्ध आधुनिक मनोविज्ञान से है। भविष्य अज्ञात ही नहीं, हमारे नियन्त्रण में भी नहीं है। हम प्रयास करके भी उसे इच्छानु-रूप नहीं बना सकते। तब भविष्य के लिए वर्त्तमान का उत्सर्ग क्यों किया जाए ? कल के सुख की आशा में आज का सुख क्यों छोड़ा जाए ? बुद्धि-मत्ता तो इसी में है कि हम प्रत्येक क्षण से आनन्द उठा लें। यह प्रवृत्ति यदि भोगवाद को प्रोत्साहित करे, तो क्या आश्चर्य ?

साहित्य और साहित्यालोचन पर मनोविश्लेषण का प्रभाव

मनोविश्लेषण की मान्यताओं को देखने के बाद अब हम इस स्थिति में हैं कि कला, साहित्य और साहित्यालोचन पर उसके प्रभाव का आकलन कर सकें। फ्रायड, ऐडलर और युंग ने अपने अनुसन्धानों और मान्यताओं को केवल मनश्चिकित्सा के लिए ही प्रयुक्त नहीं किया, बल्कि चिकित्सेतर क्षेत्रों में भी उनकी उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।[1] इनके अतिरिक्त और भी बहुत सारे विद्वानों ने मनोविश्लेषण को स्थापित करने में योगदान

१. साहित्य और कला के लिए निम्नलिखित रचनाएँ उपादेय :

फ्रायड— दि इण्टरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स (१९०० ई०); थ्री कन्ट्रिब्यूशन्स टु दि थियरी ऑफ सेक्स (१९०५ ई०); बियॉण्ड दि प्लेजर प्रिंसिपुल (१९२० ई०); लियोनार्दो दा विंची (१९१० ई०)।

ऐडलर—सोशल इण्टरेस्ट।

युंग—साइकॉलॉजी ऑफ दि अन्कॉन्शस (१९१६ ई०); साइकोलॉजिकल टाइप्स (१९२० ई०); मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ ए सोल (१९३१ ई०)।

किया तथा मनोविश्लेषण के आधार पर कलाकृतियों के अध्ययन और विवेचन पर बल दिया। फ्रायड ने स्वयं प्रसिद्ध इतालवी चित्रकार लियोनार्दो दा विन्ची और रूसी उपन्यासकार दस्तायेव्स्की पर लिखा। उसने एक ओर उनकी कृतियों के आधार पर उनके मानसिक जीवन का अध्ययन प्रस्तुत किया और दूसरी ओर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि किस प्रकार उनकी कृतियाँ उनके मानसिक जीवन का प्रतिफलन हैं। फ्रायड का अनुकरण करते हुए अनेक लेखकों ने साहित्यकारों और कलाकारों की मनोवैज्ञानिक जीवनियाँ[1] लिखीं। इन जीवनियों से कलाविषयक विशिष्ट अभिगम (एप्रोच) विकसित हुआ, जिसमें कलाकार के मनोवैज्ञानिक इतिहास के साथ उसकी कृतियों का सम्बन्ध बैठाया गया। इस श्रेणी की रचनाओं की मात्रा जितनी विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है, उतनी ही जटिल।

ऐसे अनेक लेखक हुए जिन्हें मनोविश्लेषण का अच्छा ज्ञान था और जो यह मानकर चले कि कलाओं के लिए मनोविश्लेषण का प्रत्यक्ष महत्त्व है। इनमें बहुसंख्यक अतियथार्थवादी (सुररियलिस्ट) लेखक थे। कुछ, जैसे आँद्रे ब्रेतों, को मनोविश्लेषण का व्यावहारिक और वास्तविक ज्ञान था तथा ग्रोडेक, लेवीज़ोन, लेनोर्माँ जैसे कई लेखकों ने मनोविश्लेषण को ठीक से समझा और उसमें आस्था व्यक्त की।

लेखकों और कलाकारों का एक दूसरा वर्ग सामने आया, जो मनोविश्लेषण से प्रभावित तो था, पर फ्रायड या मनोविश्लेषण के नाम से परहेज करता था। इन्होंने दो प्रकार से प्रमुखता प्राप्त की—या तो अचेतन तथा अन्य मनोविश्लेषणात्मक धारणाओं के सम्बन्ध में इन्होंने अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत कीं और फ्रायड का खण्डन किया या मनोविश्लेषण का अध्ययन किये बिना, स्वतन्त्र रूप से ये उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे, जो मनोविश्लेषण की सीमा में आते हैं। मनोविश्लेषण के विरोधियों में डी०एच० लॉरेन्स का नाम प्रधान

१. मनोवैज्ञानिक जीवनियों में निम्नलिखित उल्लेख्य हैं :

वैन विक ब्रुक की 'दि ऑर्डियल ऑफ मार्क ट्वेन' (१९२० ई०) और 'दि पिल्ग्रिमेज ऑफ हेनरी जेम्स' (१९२५ ई०); जोसेफ वुड क्रच की 'एडगर एलेन पो : ए स्टडी इन जीनियस' (१९२६ ई०); रेने लाफोर्ग की 'दि डिफीट ऑफ बोदलेर' (१९३१ ई०)। इनके अतिरिक्त एडमंड विल्सन और साउल रोज़नत्स्वाइग द्वारा लिखित जीनिवयाँ भी महत्त्व की हैं।

है। उसके 'सन्स एण्ड लवर्स' (१९१३ ई०) नामक उपन्यास में मनोविश्लेषकों और आलोचकों ने काफी दिलचस्पी ली, क्योंकि पारिवारिक समस्याओं के प्रभाव का उसमें स्पष्ट निरूपण था। लॉरेन्स मनोविश्लेषण को अत्यन्त संकीर्ण और हानिकर मानता था। उसका कहना है कि मनोविश्लेषण ऐसे वैज्ञानिक परीक्षणों और अन्वेषणों पर बल देता है, जिनमें मानव-व्यापार के प्रमुख स्रोतों और प्रेरणाओं को गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है और इसलिए जीवन-शक्तियाँ केवल बौद्धिक जिज्ञासा का विषय होकर रह गयी हैं। लॉरेन्स ने आधुनिक बुद्धिवादी और तर्कवादी जीवन का विरोध किया है और बताया है कि मनुष्य की जीवन-शक्ति पर आधुनिक उद्योग की यान्त्रिकता का घातक प्रभाव पड़ता है। शेरुड एण्डर्सन और युजीन ओ'नील जैसे लेखकों पर मनोविश्लेषण का स्पष्ट प्रभाव है।

मनोविश्लेषण ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि मनुष्य की रुचि और शालीनता को पारम्परिक निरोध तथा नियन्त्रण से मुक्त कर सहज, नैसर्गिक भूमि पर ला दिया। यह मनोविश्लेषण का ही प्रभाव है कि यौन भावनाएँ और क्रियाएँ गोपनीय न रहकर वर्णनीय हो गयीं और साहित्य में उनका खुलकर प्रयोग होने लगा।

१९२० ई० के लगभग मनोविश्लेषण ने यूरोपीय साहित्य को उसी प्रकार प्रभावित करना आरम्भ किया जिस प्रकार मार्क्सवाद ने १९३० ई० के बाद। यूरोप में लिखे गये ऐसे ग्रन्थों की सूची काफी लम्बी है, जो मनोविश्लेषण से प्रभावित हैं। कुछ ग्रन्थों में मनोविश्लेषण का बहुत उचित और विवेकपूर्ण प्रयोग हुआ है, कुछ में भ्रान्त और कुछ में, जैसा हमेशा होता है, फैशन के लिए। अर्थशास्त्र, मानवविज्ञान और धर्मविज्ञान का मिश्रण हो जाने से १९४० ई० के लगभग मनोविश्लेषण का रूप कुछ जटिल हो गया।

जिन्होंने मनोविश्लेषण को गम्भीरता से देखा-समझा, उनके लिए सर्जनात्मक क्षेत्र में मनोविश्लेषण की कम-से-कम तीन उल्लेखनीय देनें हैं :

(क) इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण **अचेतन** का अध्ययन है। फ्रायड के स्वप्न-सम्बन्धी अनुसन्धानों का कलाओं पर गम्भीर और व्यापक प्रभाव पड़ा। इन अनुसन्धानों ने अचेतन के व्यवहार के ज्ञान की परिधि विस्तृत कर दी, जिससे लेखकों और कलाकारों को सर्जनात्मक प्रयोग के लिए एक नया क्षेत्र मिल गया।

(ख) इस प्रयोग से, नूतन भंगिमाओं और सूक्ष्म अर्थच्छटाओं द्वारा, **भाषा की अभिव्यंजकता** का तो विस्तार हुआ ही, **प्रतीकों** के नये प्रयोग और नयी व्याख्या की सीमा का भी विस्तार हुआ। फ्रायड के संकेतों के आधार पर ही **चेतना-प्रवाह** (स्ट्रीम ऑफ़ कॉन्शसनेस) की शिल्पविधि का भी विकास हुआ। इस शिल्पविधि के विकास में जेम्स ज्वायस के प्रसिद्ध उपन्यास 'युलिसीज़' (१९२२ ई०) का बहुत बड़ा हाथ है, जिसका बहुत लेखकों ने अनुकरण किया। अचेतन के अध्ययन से ही **अतियथार्थवाद** का उद्भव हुआ।

(ग) आधुनिक साहित्यिक मनोविश्लेषण की अन्यतम महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उसने **मानव-व्यवहार** और उसके आधारभूत **उद्देश्यों** के उद्घाटन और परीक्षण का अवसर दिया। इससे उपन्यास, नाटक और कविता के विषय में ही नहीं, चरित्र-चित्रण में भी अधिक सूक्ष्मता और समृद्धि आयी। १९२० ई० के आस-पास 'दमन', 'मनस्ताप', 'अचेतन' आदि का प्रयोग फैशन के लिए होता था, पर १९३० ई० के बाद चरित्र की बारीकियों को प्रदर्शित करने के लिए होने लगा।

(घ) अन्तिम देन मुख्यतः युंग के अनुसन्धानों से सम्बद्ध है। जैसा हम देख चुके हैं, फ्रायड ने 'लिबिडो' का प्रयोग **यौन ऊर्जा** के लिए किया पर युंग ने **जिजीविषा** के लिए। युंग के अनुसार मानव-ऊर्जा का उपयोग केवल यौन सन्तुष्टि के लिए ही नहीं होता, बल्कि जीवनधारण के लिए होता है। यौनता जीवन का एक अंगमात्र है, सम्पूर्ण जीवन नहीं। युंग ने मनुष्य के चेतन जीवन को अचेतन के 'आर्किटाइप' से सम्बद्ध किया तथा मिथकों और पुराणों के अध्ययन की नयी दिशा की ओर इंगित किया। इस प्रकार युंग ने फ्रायड की अतियौनतावादी संकीर्णता से जीवन और साहित्य को मुक्त किया।

अब हम मनोविश्लेषण की **कलाविषयक** मान्यताओं पर ध्यान दें। यहाँ कला शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में है, अतः कला से साहित्य का और कलाकार से साहित्यकार (कवि, नाटककार, उपन्यासकार आदि) का बोध अभिप्रेत है। वे मान्यताएँ निम्नलिखित हैं :

१. कलाकार मनस्तापी होता है।

२. कला कामेच्छा या यौन-भावना के निर्गम का साधन है।

है। बहुत सारे कलाकार अन्तर्मुखी नहीं होते। तात्पर्य यह कि अन्तर्मुखिता कलाकार का अनिवार्य गण नहीं है। फिर, सभी कलाकार साधनहीन भी नहीं होते; अनेक कलाकारों का जीवन हर तरह से सम्पन्न और समृद्ध रहा है और उन्हें समस्त लौकिक सुखभोग सुलभ रहे हैं। जिसे वास्तविक सुख-भोग सुलभ होंगे, वह रम्यकल्पना के द्वारा अपनी इच्छाओं की परितुष्टि का प्रयास क्यों करेगा? किसी की संरचना में ही उदात्तीकरण की क्षमता हो, यह कथन और चाहे जो हो, वैज्ञानिक नहीं है। संरचना से उदात्तीकरण का कोई कार्य-करण-भाव सम्बन्ध तो है नहीं। उदात्तीकरण के साथ दिवा-स्वप्नों के विस्तार के लिए फ्रायड एक प्रकार की रहस्यात्मक योग्यता की कल्पना करता है। 'रहस्यात्मक' विशेषण इस बात का द्योतक है कि उस योग्यता का रूप न स्पष्ट है, न ज्ञात। इस तरह मनोविश्लेषण की पहली मान्यता ही नहीं, अन्य मान्यताएँ भी अग्राह्य सिद्ध होती हैं।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि मनस्ताप एक प्रकार का मानसिक असन्तुलन या विक्षेप है, जिससे अव्यवस्था उत्पन्न होती है। कला न तो अव्यवस्था है और न अव्यवस्था से उत्पन्न वस्तु। जहाँ मनस्तापी व्यवस्था में अव्यवस्था ला देता है, वहाँ कलाकार अव्यवस्था में व्यवस्था। कला तो व्यवस्था, सन्तुलन, रमणीयता और मानसिक स्वस्थता का चरम निदर्शन है। अतः मनस्ताप से उसका सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा असंगत और अयुक्त है।

२. फ्रायड एक ओर तो कला को **यौन इच्छा के निर्गम** का माध्यम मानता है और दूसरी ओर स्वयं स्वीकार करता है कि एतद्विषयक सामग्री अपर्याप्त है: "यदि हमारी सामग्री अपर्याप्त न होती, तो हम बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बताते कि आदिम मानसिक शक्तियों पर कलात्मक क्रिया कैसे निर्भर करती है। अभी हम इतना ही कहकर सन्तोष करते हैं, और जिसके बारे में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है, कि किसी कलाकार की कृति उसकी यौन इच्छाओं के निर्गम का अवसर प्रदान करती है।" सामग्री अपर्याप्त और निष्कर्ष ऐसे जिनमें 'सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं', यह तो वदतोव्याघात है! दोनों बातें परस्परविरोधी हैं।

३. फ्रायड के अनुसार कला ही नहीं, संस्कृति और धर्म भी **उदात्तीकरण** के विभिन्न रूप हैं। वह कहता है कि "सभ्यता का निर्माण, आदिम आवेगों की सन्तुष्टि के त्याग के द्वारा, जीवन-संघर्ष के दबाव में हुआ है।... प्रत्येक

व्यक्ति, समुदाय का अंग बनकर, सामूहिक लाभ के लिए, अपने सहज आनन्दों का बार-बार त्याग करता है। इस प्रकार के उपयोग में आनेवाली सहज-प्रवृत्तियों में यौन वृत्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस भाँति उनका उदात्तीकरण होता है, अर्थात् यौन उद्देश्यों से हटकर उनकी ऊर्जा दूसरे उद्देश्यों की ओर मुड़ जाती है, जो यौन न रहकर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् बन जाती है।"[१] तात्पर्य यह कि कला हमारे यौन तथा अन्य आदिम आवेगों का उदात्तीकरण है।

फ्रायड के इस विचार का खण्डन प्रो० कलीमुद्दीन अहमद ने यों किया है: "संस्कृति उदात्तीकृत यौनता नहीं है। उसकी उत्पत्ति मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकता से होती है। मनुष्य में संस्कृति की ओर बढ़ने की सहजप्रवृत्ति होती है और यह सहजप्रवृत्ति उतनी ही नैसर्गिक होती है, जितना यौन आवेग। यह भिन्न किन्तु उच्चतर आवेग है; उच्चतर इसलिए कि यह मनुष्य को पशुओं से पृथक् करता है। इस उच्चतर आवेग की सन्तुष्टि यौन आवेग की सन्तुष्टि से किसी प्रकार कम आवश्यक नहीं होती; यहाँ तक कि मनुष्य उस सन्तुष्टि के लिए यौन सन्तुष्टि का त्याग करने को भी प्रस्तुत हो जाता है। यौन आवेग की तृप्ति से हमें तीव्र और तात्कालिक सन्तुष्टि होती है, किन्तु वह आनन्द चिरस्थायी नहीं होता। संस्कृति से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह तीव्र तो कम होता है, किन्तु स्थायी अधिक होता है। मनुष्य उस सन्तुष्टि को इतना मूल्यवान् मानता है कि वह अकेले ही उसका उपयोग नहीं करना चाहता, उसे आनेवाली पीढ़ियों तक संचारित करना चाहता है।"[२]

४. फ्रायड का कहना है कि सुख-सान्त्वना के लिए प्रत्येक बुभुक्षित आत्मा को रम्यकल्पना की आवश्यकता पड़ती है। बाह्य आवश्यकता से प्रेरित होकर मनुष्य को आनन्द का, जिसमें यौन आनन्द भी शामिल है, परित्याग करना पड़ता है, किन्तु आनन्द का त्याग सदा कठिन और अप्रिय होता है। मनुष्य बिना किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति के आनन्द का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए उसने एक तरह की मानसिक सक्रियता विकसित कर रखी है, जिसमें

१. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोअनैलिसिस।

२. मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन; पृ० ८२।

आनन्द के सभी परित्यक्त स्रोत अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। वास्तविक आनन्द की प्राप्ति में बाधा देखकर मनुष्य मानसिक आनन्द की सृष्टि करना चाहता है। यह मानसिक आनन्द रम्यकल्पना से सम्भव होता है। हमें जीवन से जो प्राप्त नहीं होता, वह रम्यकल्पना से प्राप्त हो जाता है। यह रम्यकल्पना हमारे आवेगों और इच्छाओं के नैराश्य की क्षतिपूर्ति करती है। यह क्षतिपूर्ति एक प्रकार का **दिवास्वप्न** है, जिसके बिना जीवन असह्य हो जाएगा। अपने दिवास्वप्नों में हम ऐसे दृश्यों और घटनाओं का निर्माण कर लेते हैं, जिनसे हमारी अहंवादी और शृंगारिक इच्छाएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं। फ्रायड के अनुसार ये दिवास्वप्न ही काव्यरचना के उपादान बनते हैं।

कला को रम्यकल्पना, क्षतिपूर्ति या दिवास्वप्न कहना उसके क्षेत्र को ही नहीं, प्रयोजन को भी संकुचित करना है; साथ ही, उसके आधार को केवल काल्पनिक बना देना है। इस दृष्टि से कला हवाई महल होकर रह जाती है, जिसका न ठोस जमीन से कोई सम्बन्ध है और न आनन्दित करने के अलावा कोई दूसरा प्रयोजन। आनन्द तो चित्रकाव्य भी देता है, पर उसकी गणना अधम काव्य में होती है। फ्रायड की इस धारणा के अनुसार 'रामचरितमानस' और 'बिहारी सतसई' अथवा 'चन्द्रकान्ता' और 'गोदान' में कोई अन्तर नहीं है; ये सब रम्यकल्पना या दिवास्वप्न हैं। कलाओं और कृतियों के सापेक्ष मूल्य को माननेवाला भावक इस स्थिति को कैसे स्वीकार कर सकता है?

५. बोदुएँ, जो मनोविश्लेषण का प्रबल पक्षधर है, कहता है कि "स्वप्न और कविता दोनों में कल्पना का विलास बिलकुल एक प्रकार का होता है। हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्यात्मक कल्पना अथवा काव्यात्मक कल्पना नाम की कोई चीज नहीं होती, होती है केवल कल्पना।" इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय है कि जो कल्पना स्वप्न में काम करती है, वही कविता में भी काम करती है। किन्तु यह प्रत्यक्ष-विरोध है क्योंकि दोनों में मौलिक अन्तर है। हमारा अनुभव बताता है कि स्वप्न में जो कल्पना काम करती है, वह अनियन्त्रित, असन्तुलित और निरुद्देश्य हुआ करती है; उसमें न कोई क्रम होता है, न कोई व्यवस्था। वह अधिकतर ऊटपटाँग, असम्बद्ध बिम्बों का निर्माण करती है। इसके प्रतिकूल कला या कविता में जिस कल्पना का उपयोग होता है, वह नियन्त्रित, सन्तुलित एवं सोद्देश्य होती है।

३. कला उदात्तीकरण अथवा क्षतिपूर्ति है।
४. कला एक प्रकार की रम्यकल्पना है।
५. स्वप्न और कल्पना में भेद नहीं है।
६. कला में प्रयुक्त बिम्बों और प्रतीकों के विवेचन के लिए मनोविश्लेषण की महत्त्वपूर्ण उपादेयता है।
७. मनोविश्लेषण से कला के अभिजात (क्लासिक) और स्वच्छन्द (रोमाण्टिक) इन दो भेदों का वैज्ञानिक समाधान प्राप्त होता है।
८. आदिम बिम्बों और सामूहिक अचेतन से 'मिथकों का निर्माण होता है।

इन मान्यताओं का साहित्यालोचन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अतः इनकी मीमांसा प्रासंगिक और आवश्यक है।

१. फ्रायड कलाकार को मूलतः मनस्तापी मानता है। वह कहता है: "कलाकार की मनोवृत्ति अन्तर्मुखी होती है।... वह सम्मान, शक्ति, सम्पत्ति, यश और नारी-प्रेम प्राप्त करना चाहता है, किन्तु इन परितुष्टियों की प्राप्ति के साधनों से वंचित है। इसलिए असन्तुष्ट काम-भावना के कारण दूसरे व्यक्तियों के समान ही, वह वास्तविकता से दूर हट जाता है और अपनी सारी अभिरुचि तथा कामोत्तेजना को रम्यकल्पना के जीवन में, अपनी इच्छाओं की सृष्टि की ओर लगा देता है जिससे मनस्ताप उत्पन्न होता है। ... यह सुविदित है कि कलाकार अधिकतर अपनी शक्तियों के आंशिक निरोध से तथा मनस्ताप से ग्रस्त होता है। सम्भवतः उसकी संरचना में उदात्तीकरण की सबल शक्ति होती है।... वह जानता है कि अपने दिवास्वप्नों का किस प्रकार विस्तार करे।... उसमें वह रहस्यात्मक योग्यता भी होती है, जिससे अपनी विशिष्ट सामग्री को वह इस प्रकार ढाल दे कि कल्पनागत विचारों की अभिव्यक्ति हो जाए।"[१]

इस एक ही सन्दर्भ में फ्रायड की कलाविषयक अनेक मान्यताएँ संकेतित हैं। इसे सरसरी नजर से भी देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड की मान्यताएँ तथ्य से अधिक पूर्वग्रह पर आश्रित हैं।

पहली बात तो यह कि कलाकार अन्तर्मुखी हो ही, यह आवश्यक नहीं

१. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोअनैलिसिस।

है। बहुत सारे कलाकार अन्तर्मुखी नहीं होते। तात्पर्य यह कि अन्तर्मुखिता कलाकार का अनिवार्य गण नहीं है। फिर, सभी कलाकार साधनहीन भी नहीं होते; अनेक कलाकारों का जीवन हर तरह से सम्पन्न और समृद्ध रहा है और उन्हें समस्त लौकिक सुखभोग सुलभ रहे हैं। जिसे वास्तविक सुख-भोग सुलभ होंगे, वह रम्यकल्पना के द्वारा अपनी इच्छाओं की परितुष्टि का प्रयास क्यों करेगा? किसी की संरचना में ही उदात्तीकरण की क्षमता हो, यह कथन और चाहे जो हो, वैज्ञानिक नहीं है। संरचना से उदात्तीकरण का कोई कार्य-करण-भाव सम्बन्ध तो है नहीं। उदात्तीकरण के साथ दिवा-स्वप्नों के विस्तार के लिए फ्रायड एक प्रकार की रहस्यात्मक योग्यता की कल्पना करता है। 'रहस्यात्मक' विशेषण इस बात का द्योतक है कि उस योग्यता का रूप न स्पष्ट है, न ज्ञात। इस तरह मनोविश्लेषण की पहली मान्यता ही नहीं, अन्य मान्यताएँ भी अग्राह्य सिद्ध होती हैं।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि मनस्ताप एक प्रकार का मानसिक असन्तुलन या विक्षेप है, जिससे अव्यवस्था उत्पन्न होती है। कला न तो अव्यवस्था है और न अव्यवस्था से उत्पन्न वस्तु। जहाँ मनस्तापी व्यवस्था में अव्यवस्था ला देता है, वहाँ कलाकार अव्यवस्था में व्यवस्था। कला तो व्यवस्था, सन्तुलन, रमणीयता और मानसिक स्वस्थता का चरम निदर्शन है। अतः मनस्ताप से उसका सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा असंगत और अयुक्त है।

२. फ्रायड एक ओर तो कला को **यौन इच्छा के निर्गम** का माध्यम मानता है और दूसरी ओर स्वयं स्वीकार करता है कि एतद्विषयक सामग्री अपर्याप्त है: "यदि हमारी सामग्री अपर्याप्त न होती, तो हम बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बताते कि आदिम मानसिक शक्तियों पर कलात्मक क्रिया कैसे निर्भर करती है। अभी हम इतना ही कहकर सन्तोष करते हैं, और जिसके बारे में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है, कि किसी कलाकार की कृति उसकी यौन इच्छाओं के निर्गम का अवसर प्रदान करती है।" सामग्री अपर्याप्त और निष्कर्ष ऐसे जिनमें 'सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं', यह तो वदतोव्याघात है! दोनों बातें परस्परविरोधी हैं।

३. फ्रायड के अनुसार कला ही नहीं, संस्कृति और धर्म भी **उदात्तीकरण** के विभिन्न रूप हैं। वह कहता है कि "सभ्यता का निर्माण, आदिम आवेगों की सन्तुष्टि के त्याग के द्वारा, जीवन-संघर्ष के दबाव में हुआ है।...प्रत्येक

व्यक्ति, समुदाय का अंग बनकर, सामूहिक लाभ के लिए, अपने सहज आनन्दों का बार-बार त्याग करता है। इस प्रकार के उपयोग में आनेवाली सहज-प्रवृत्तियों में यौन वृत्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस भाँति उनका उदात्तीकरण होता है, अर्थात् यौन उद्देश्यों से हटकर उनकी ऊर्जा दूसरे उद्देश्यों की ओर मुड़ जाती है, जो यौन न रहकर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् बन जाती है।"[१] तात्पर्य यह कि कला हमारे यौन तथा अन्य आदिम आवेगों का उदात्तीकरण है।

फ्रायड के इस विचार का खण्डन प्रो० कलीमुद्दीन अहमद ने यों किया है : "संस्कृति उदात्तीकृत यौनता नहीं है। उसकी उत्पत्ति मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकता से होती है। मनुष्य में संस्कृति की ओर बढ़ने की सहजप्रवृत्ति होती है और यह सहजप्रवृत्ति उतनी ही नैसर्गिक होती है, जितना यौन आवेग। यह भिन्न किन्तु उच्चतर आवेग है; उच्चतर इसलिए कि यह मनुष्य को पशुओं से पृथक् करता है। इस उच्चतर आवेग की सन्तुष्टि यौन आवेग की सन्तुष्टि से किसी प्रकार कम आवश्यक नहीं होती; यहाँ तक कि मनुष्य उस सन्तुष्टि के लिए यौन सन्तुष्टि का त्याग करने को भी प्रस्तुत हो जाता है। यौन आवेग की तृप्ति से हमें तीव्र और तात्कालिक सन्तुष्टि होती है, किन्तु वह आनन्द चिरस्थायी नहीं होता। संस्कृति से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह तीव्र तो कम होता है, किन्तु स्थायी अधिक होता है। मनुष्य उस सन्तुष्टि को इतना मूल्यवान् मानता है कि वह अकेले ही उसका उपयोग नहीं करना चाहता, उसे आनेवाली पीढ़ियों तक संचारित करना चाहता है।"[२]

४. फ्रायड का कहना है कि सुख-सान्त्वना के लिए प्रत्येक बुभुक्षित आत्मा को रम्यकल्पना की आवश्यकता पड़ती है। बाह्य आवश्यकता से प्रेरित होकर मनुष्य को आनन्द का, जिसमें यौन आनन्द भी शामिल है, परित्याग करना पड़ता है, किन्तु आनन्द का त्याग सदा कठिन और अप्रिय होता है। मनुष्य बिना किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति के आनन्द का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए उसने एक तरह की मानसिक सक्रियता विकसित कर रखी है, जिसमें

१. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोअनैलिसिस।

२. मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन; पृ० ८२।

आनन्द के सभी परित्यक्त स्रोत अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। वास्तविक आनन्द की प्राप्ति में बाधा देखकर मनुष्य मानसिक आनन्द की सृष्टि करना चाहता है। यह मानसिक आनन्द रम्यकल्पना से सम्भव होता है। हमें जीवन से जो प्राप्त नहीं होता, वह रम्यकल्पना से प्राप्त हो जाता है। यह रम्यकल्पना हमारे आवेगों और इच्छाओं के नैराश्य की क्षतिपूर्ति करती है। यह क्षतिपूर्ति एक प्रकार का **दिवास्वप्न** है, जिसके बिना जीवन असह्य हो जाएगा। अपने दिवास्वप्नों में हम ऐसे दृश्यों और घटनाओं का निर्माण कर लेते हैं, जिनसे हमारी अहंवादी और शृंगारिक इच्छाएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं। फ्रायड के अनुसार ये दिवास्वप्न ही काव्यरचना के उपादान बनते हैं।

कला को रम्यकल्पना, क्षतिपूर्ति या दिवास्वप्न कहना उसके क्षेत्र को ही नहीं, प्रयोजन को भी संकुचित करना है; साथ ही, उसके आधार को केवल काल्पनिक बना देना है। इस दृष्टि से कला हवाई महल होकर रह जाती है, जिसका न ठोस जमीन से कोई सम्बन्ध है और न आनन्दित करने के अलावा कोई दूसरा प्रयोजन। आनन्द तो चित्रकाव्य भी देता है, पर उसकी गणना अधम काव्य में होती है। फ्रायड की इस धारणा के अनुसार 'रामचरितमानस' और 'बिहारी सतसई' अथवा 'चन्द्रकान्ता' और 'गोदान' में कोई अन्तर नहीं है; ये सब रम्यकल्पना या दिवास्वप्न हैं। कलाओं और कृतियों के सापेक्ष मूल्य को माननेवाला भावक इस स्थिति को कैसे स्वीकार कर सकता है?

५. बोदुएँ, जो मनोविश्लेषण का प्रबल पक्षधर है, कहता है कि "स्वप्न और कविता दोनों में कल्पना का विलास बिलकुल एक प्रकार का होता है। हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्यात्मक कल्पना अथवा काव्यात्मक कल्पना नाम की कोई चीज नहीं होती, होती है केवल कल्पना।" इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय है कि जो कल्पना स्वप्न में काम करती है, वही कविता में भी काम करती है। किन्तु यह प्रत्यक्ष-विरोध है क्योंकि दोनों में मौलिक अन्तर है। हमारा अनुभव बताता है कि स्वप्न में जो कल्पना काम करती है, वह अनियन्त्रित, असन्तुलित और निरुद्देश्य हुआ करती है; उसमें न कोई क्रम होता है, न कोई व्यवस्था। वह अधिकतर ऊटपटाँग, असम्बद्ध बिम्बों का निर्माण करती है। इसके प्रतिकूल कला या कविता में जिस कल्पना का उपयोग होता है, वह नियन्त्रित, सन्तुलित एवं सोद्देश्य होती है।

कलात्मक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए कलाकार कल्पना का बहुत ही सतर्क, यौक्तिक तथा व्यवस्थित प्रयोग करता है। 'मेघदूत' की सुघटित और रमणीय कल्पना को स्वप्न की उच्चावच, सौन्दर्यहीन कल्पना से अभिन्न मानना किसी भी सहृदय के लिए कठिन है।

६. बोदुएँ की यह भी मान्यता है कि मनोविश्लेषण से **बिम्बों** और **प्रतीकों** के सम्बन्ध में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त हो सकती है, जो आलोचना को वैज्ञानिक बना सकती है। आपाततः यह बात ठीक जरूर लगती है, किन्तु आपत्तिमुक्त नहीं है।

पहली आपत्ति तो यह है कि मनोविश्लेषक और आलोचक, दोनों के दृष्टिकोण और अभिगम (एप्रोच) सर्वथा भिन्न हैं। मनोविश्लेषक बिम्बों और प्रतीकों के आधार पर कलाकार की मनोग्रन्थियों और दमनों का निर्धारण करने का प्रयास करता है, पर आलोचक की दृष्टि उनके चारुत्व पर रहती है। मनोविश्लेषक के लिए बिम्बों और प्रतीकों का महत्त्व **मात्रात्मक** है, पर आलोचक के लिए **कलात्मक,** अर्थात् जिस कृति में जितने अधिक बिम्ब और प्रतीक होंगे, वह मनोविश्लेषक के लिए उतनी ही उपयोगी होगी, क्योंकि उसकी सहायता से अपने निष्कर्षों को वह अधिक-से-अधिक पुष्ट कर सकता है। आलोचक को बिम्बों और प्रतीकों की संख्या से कुछ भी लेना-देना नहीं है, संख्या अधिक होने पर भी वे कलात्मक दृष्टि से निरर्थक और अनुपयोगी हो सकते हैं। इसके प्रतिकूल, कलात्मक उत्कर्ष से संवलित एक भी बिम्ब या प्रतीक कविता में जान डाल देता है। इसी को ध्वनि के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने कहा है कि

पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।
एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी॥

—एक पद की रमणीय ध्वनि से भाषा (कविता) वैसे ही चमक उठती है, जैसे एक अंग के आभूषण से रमणी का सौन्दर्य। तात्पर्य यह कि जहाँ मनोविश्लेषक बिम्बों और प्रतीकों के आधार पर **मनोग्रन्थियों का अनुसन्धान** करेगा, वहाँ आलोचक **कलाकृति का मूल्यांकन।**

७. बोदुएँ के समान हर्बर्ट रीड दूसरा आलोचक है, जो मनोविश्लेषण को साहित्यालोचन के लिए आवश्यक मानता है। वह कहता है कि युंग ने जो दो मनोवैज्ञानिक प्रकार—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी—माने हैं, वे **साहित्यिक**

प्रकारों (स्वच्छन्द और अभिजात) के निरूपण का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हैं। स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) कलाकार सदा अन्तर्मुखी अभिवृत्ति के व्यापार का वर्णन करता है, किन्तु आभिजात्यवादी (क्लासिक) बहिर्मुखी अभिवृत्ति के व्यापार का। किन्तु यह कोई ऐसी बड़ी बात नहीं है, जिसके लिए हमें मनोविश्लेषण का आश्रय लेना पड़े। यह बहुत मोटी बात है और मनोविश्लेषण की सहायता के बिना भी स्वच्छन्द और अभिजात का अन्तर प्रत्येक आलोचक जानता है। युंग के इस द्विविध प्रकार-कल्पना के बहुत पहले से दोनों प्रकार की कविताएँ होती आयी हैं।

८. रीड के अनुसार साहित्य में मनोविज्ञान के प्रयोग की दूसरी सफल दिशा वह है, जिसमें युंग की **आदिम बिम्बों** की धारणा पायी जाती है। युंग का कहना है कि जो व्यक्ति में घटित होता है, वह समष्टि में भी घटित हो सकता है। संसार में अस्तित्व के लिए चलनेवाले संघर्ष के चिह्न सामूहिक रूप में काम करनेवाले मन पर अवश्य पड़ते हैं। ऐसे असंख्य चिह्न संचित होकर मस्तिष्क की भौतिक संरचना में परिणत होते हैं और बाद में विचार के कुछ रूपों में बदल जाते हैं। इन्हें ही युंग आदिम बिम्ब कहता है। अन्ततः ऐसे बिम्ब मिथकों और धर्मों का आकार ग्रहण कर लेते हैं। कभी-कभी साहित्य में, विशेषतः महाकाव्य में, सामूहिक विचारों की जो अभिव्यक्ति पायी जाती है, उसके विवेचन में मनोविश्लेषण सहायक हो सकता है।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यातव्य हैं: एक तो यह कि आदिम बिम्ब या सामूहिक अचेतन कल्पनामात्र है, जिसके साक्ष्य की परीक्षा नहीं हुई है। साक्ष्य-निरपेक्ष कल्पना को स्वीकार करने में स्वभावतः कठिनाई है। दूसरी यह कि आदिम बिम्बों का, यदि मिथकों और धर्मों में, रूप-परिवर्तन हुआ भी हो तो उसका अध्ययन मानवविज्ञान या समाजविज्ञान की सीमा में आएगा। कलाकार के लिए मिथकों का प्रयोग पर्याप्त है, उनके उद्भव के अनुसन्धान का प्रयास अनपेक्षित।

९. मनोवैज्ञानिक **नियतत्ववाद** के अनुसार मनुष्य की सारी क्रियाएँ अचेतन से परिचालित और नियन्त्रित हैं और उसे आचरण-स्वातन्त्र्य नहीं है। परिणामतः किसी वस्तु के लिए उसे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। नैतिकता-अनैतिकता के लिए भी वह उत्तरदायी नहीं है। कलाकार भी मनुष्य

है। अतः अपनी रचना के लिए उसका कोई नैतिक उत्तरदायित्व नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ लिखता है, वह अचेतन के इशारे पर।

मनोविश्लेषक की दृष्टि में नैतिकता का महत्त्व भले ही न हो, किन्तु न तो कलाकार उससे उदासीन रह सकता है, न आलोचक। कलाकार सर्वोच्च प्रज्ञा का प्रतिनिधि, व्याख्याता और प्रस्तोता होता है; उससे नैतिकता को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि नैतिकता संस्कृति का अपरिहार्य अंश है और कला का सम्बन्ध भी संस्कृति से ही है। वस्तुतः **सौन्दर्य-चेतना** और **आचार-शुचिता** मनुष्य के सहज धर्म हैं और उसके सांस्कृतिक विकास में इन दोनों का बहुत बड़ा योगदान है। जिस प्रकार सौन्दर्य-चेतना से कला का उद्भव हुआ है, उसी प्रकार आचार-शुचिता से नैतिकता का। इन्हें अस्वीकार कर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाएगा और उसकी सारी सांस्कृतिक उपलब्धि शून्य में विलीन हो जाएगी। मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद के इस अनर्थकारी परिणाम के लिए मनुष्य तैयार होगा, यह सन्दिग्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से मनोविश्लेषण की कलाविषयक मान्यताओं की असारता स्पष्ट हो जाती है। साहित्यालोचन की दृष्टि से तो मनोविश्लेषण की असारता और अनुपयोगिता और भी स्पष्ट है। आलोचना के मुख्य विषय हैं **कलावस्तु, कलात्मक व्यापार, मूल्यांकन और शब्दार्थ-विचार।** इनके सम्बन्ध में मनोविश्लेषण कुछ भी कहने में असमर्थ है।

१. किसी कलाकृति का मूल उपकरण है **विषय** या **वस्तु** क्योंकि उसी का आधार लेकर कला खड़ी होती है। मनोविश्लेषण किसी वस्तु के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय नहीं कर सकता, अर्थात् न तो उसकी कलात्मक सम्भावना के सम्बन्ध में कुछ कह सकता है और न कलात्मक सफलता के सम्बन्ध में। कला की कोई भी वस्तु उसके लिए मानसिक प्रक्रिया का उदाहरणमात्र है। कहने का तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण किसी वस्तु पर केवल इस दृष्टि से विचार करता है कि वह मानसिक रूप में कैसे घटित होती है और इस दृष्टि में कलात्मक संवेदनशीलता का सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए यह साहित्यालोचन के लिए अनुपादेय है।

२. **कलात्मक व्यापार** या **शिल्प-विधान** की मीमांसा आलोचना का प्रमुख कार्य है। वस्तु की तरह व्यापार में भी मनोविश्लेषण की कोई रुचि नहीं है। फ्रायड और युंग ने इसे स्वीकार भी किया है। फ्रायड कहता है :

"सामान्य व्यक्ति मनोविश्लेषण से बहुत कुछ आशा करता है, किन्तु यह मानना होगा कि जिन दो समस्याओं में उसकी सबसे अधिक अभिरुचि रहती है, उन-पर मनोविश्लेषण विशेष प्रकाश नहीं डाल सकता। एक तो यह कि कलात्मक प्रतिभा की प्रकृति की वह व्याख्या नहीं कर सकता और दूसरी यह कि कलाकार के व्यापार अर्थात् कलात्मक शिल्प-विधान के सम्बन्ध में भी वह कुछ नहीं कह सकता।"[१] प्रकारान्तर से युंग भी इसी को दुहराता है: "किसी दूसरी मानवीय क्रिया के समान कला भी मानसिक प्रेरणा से उत्पन्न होती है और इस दृष्टि से वह मनोविज्ञान का उचित विषय है। किन्तु यह निष्कर्ष मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रयोग की एक अत्यन्त स्पष्ट सीमा का भी संकेत करता है। कला का वही पक्ष, जो कलात्मक रूप की प्रक्रिया से सम्बद्ध है, मनोविज्ञान का विषय हो सकता है, किन्तु जो पक्ष कला की अनिवार्य प्रकृति का निर्माण करता है, वह सदा इस क्षेत्र से बाहर रहेगा। यह दूसरा पक्ष, अर्थात् कला अपने-आपमें क्या है, मनोविज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकता। इसका विचार सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित कलात्मक प्रणाली से ही हो सकता है।"[२] इन कथनों पर टिप्पणी अनपेक्षित है। मनोविश्लेषण के प्रवर्तक तो उसकी सीमाएँ और त्रुटियाँ स्वीकार करते हैं और उसे साहित्या-लोचन के अयोग्य मानते हैं, पर मनोविश्लेषण के अनुगामी उसे साहित्यालोचन के लिए अनिवार्य बताते हैं। 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' वाली कहावत कितनी सही है?

३. शिल्प-विधान की व्याख्या में ही नहीं, कलाकृति के **मूल्यांकन** तथा विभिन्न कलाकृतियों के सापेक्ष मूल्य-निर्धारण में भी मनोविश्लेषण असमर्थ है। कोई कलाकृति किन मानसिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप आकार ग्रहण कर सकी, यह मनोविश्लेषण भले ही बता दे, पर कलाकृति के रूप में उसका मूल्य क्या है या मूल्य का आधार क्या है, इसे वह नहीं बता सकता। कोई कृति सफल है या असफल? सफल है तो किस अंश में? किस मात्रा तक? असफल है तो क्यों? दूसरी समान कृतियों की तुलना में उसकी क्या स्थिति है? इन प्रश्नों का समाधान मनोविश्लेषण के पास नहीं है।

१. ऑटोबायोग्राफिकल स्टडी।
२. कंट्रिब्यूशन्स टु एनलिटिकल साइकॉलॉजी।

४. मूल्य से कम महत्त्व **शब्दार्थ-विचार** का नहीं है। कलाकार की अनुभूतियों से हमारा तब तक तादात्म्य नहीं हो सकता, जब तक उनका सम्प्रेषण सफल न हो और सम्प्रेषण की सफलता शब्दों के समुचित प्रयोग पर निर्भर करती है। शब्द ही वह माध्यम है जो कलाकार की अनुभूतियों को भावक तक पहुँचाते अर्थात् सम्प्रेषित करते हैं। पर सम्प्रेषण ही पर्याप्त नहीं है। यदि कोई कराहकर या चीखकर अपने दर्द को श्रोता तक सम्प्रेषित कर देता है तो यह कला नहीं होगी। सौन्दर्य कला का अनिवार्य गुण है; इसलिए कलात्मक अभिव्यंजना में सौन्दर्य का आधान अनिवार्य होता है। सफल कृति में शब्दसौन्दर्य के साथ अर्थसौन्दर्य या भावसौन्दर्य जुड़ा रहता है। सौन्दर्य कला का जीवनाधायक तत्त्व है और उसके प्रति मनोविश्लेषण सर्वथा तटस्थ है। उसे न तो सौन्दर्य से कोई अनुराग है, न असौन्दर्य से विराग। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण ठीक उन्हीं विषयों के विवेचन में अनुपयुक्त सिद्ध होता है; जो आलोचना के लिए सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। कलावस्तु, कलात्मक व्यापार, कलात्मक सम्प्रेषण, कलात्मक शब्द-प्रयोग, ये सबके सब मनोविश्लेषण के लिए वर्जित प्रदेश हैं। ऐसी स्थिति में आलोचना के लिए उसकी उपादेयता स्वीकार की जाए तो कैसे ?

प्रोफेसर कलीमुद्दीन अहमद अँगरेजी, फ्रांसीसी और उर्दू साहित्य के पारंगत विद्वान् और सम्मानित आलोचक हैं। प्रोफेसर अहमद की 'उर्दू शायरी पर एक नज़र' और 'उर्दू तनकीद (आलोचना) पर एक नज़र' नामक पुस्तकें उर्दू आलोचना-साहित्य की बहुचर्चित और लब्धप्रतिष्ठ कृतियाँ हैं। आपकी आलोचना तर्कयुक्त, प्रमाणपुष्ट और प्रांजल होती है। प्रो० अहमद की आलोचना के ये गुण इस पुस्तक में भी वर्त्तमान हैं।

हिन्दी की आलोचना में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की चर्चा तो प्रायः होती है, पर ऐसे आलोचक इने-गिने ही हैं, जो इन विषयों को अच्छी तरह जानते हों। अधिकतर आलोचक फैशन के लिए ही मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण का नाम लिया करते हैं। हिन्दी में ऐसी पुस्तक नहीं है, जो मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन के पारस्परिक एवं सापेक्ष सम्बन्ध पर प्रकाश डालती हो। इस अभाव की पूर्ति के लिए ही प्रोफेसर अहमद की 'साइको-अनैलिसिस ऐण्ड लिटररी क्रिटिसिज़्म' नामक अँगरेजी पुस्तक का मैंने हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया है। पुस्तक में आये कतिपय नाम कुछ पाठकों के लिए

अपरिचित हो सकते हैं, अतः 'परिशिष्ट १' में उनका परिचय दे दिया गया है। हिन्दी में मनोविज्ञान-विषयक साहित्य कम है और मनोविश्लेषण-विषयक साहित्य तो उससे भी कम, प्रायः नहीं के बराबर। अतः इन शास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली भी अपेक्षाकृत अपरिचित और अनभ्यस्त है। विषय की बोधगम्यता के लिए पारिभाषिक शब्दावली का परिचित और अभ्यस्त होना आवश्यक है। 'परिशिष्ट २' में हिन्दी-अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दी शब्दावली इसी कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से दी गयी है। अँगरेजी शब्दों के ज्ञाता उनके हिन्दी पर्याय आसानी से ढूँढ़ ले सकते हैं।

मेरे प्रिय छात्र डॉ० रामचन्द्र प्रसाद, एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट०, रीडर, अँगरेजी विभाग, पटना विश्वविद्यालय ने पुस्तक में उद्धृत अँगरेजी कविताओं का तथा प्रिय बन्धु व्रजनाथ माधव वाजपेयी ने फ्रांसीसी कविताओं का हिन्दी अनुवाद कर मेरा भार हलका किया है; तदर्थ मैं आभारी हूँ। पुस्तक के प्रथम अध्याय के अनुवाद में मुझे प्रियवर रामेश्वरनाथ तिवारी, व्याख्याता, हिन्दी विभाग, जैन कॉलेज, आरा से जो सहायता प्राप्त हुई है, उसके लिए उन्हें शतशः साधुवाद। 'परिशिष्ट १' मेरी पुत्री दीप्ति (एम० ए० संस्कृत—उत्तरार्ध) ने और 'परिशिष्ट २' मेरे छात्र सकलदेव शर्मा (एम० ए० हिन्दी—उत्तरार्ध) ने तैयार किया है।

इस योजना को कार्यान्वित करने का भार 'भारती भवन' के निपुण और सुरुचिसम्पन्न संचालक श्री मोहितमोहन बोस ने उठाया है। उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

देवेन्द्रनाथ शर्मा
आचार्य तथा अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय

पटना
१४ अप्रील, १९६९

9
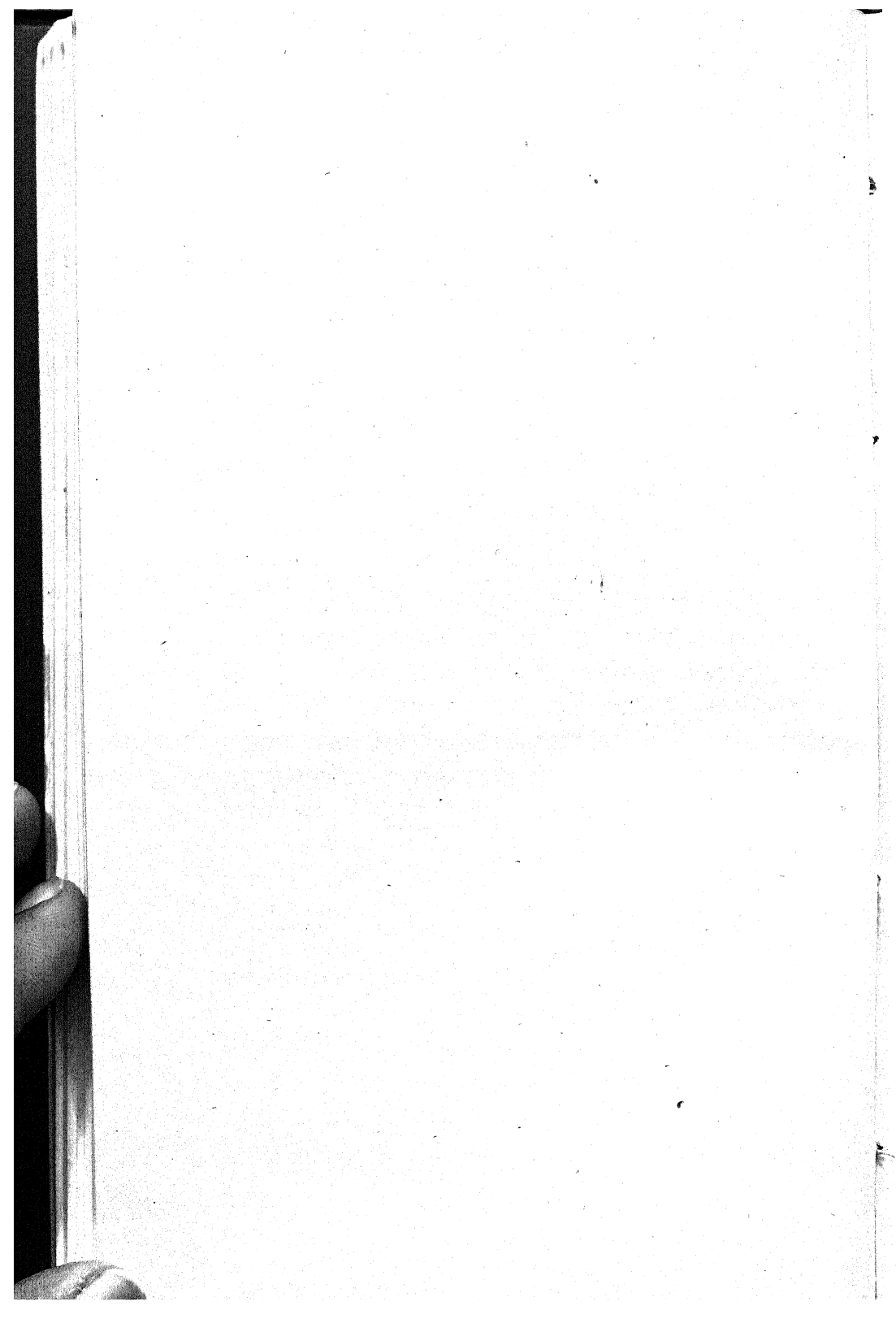
भूमिका

इसे सुसंयोग कहिए अथवा किसी मन्द विकासात्मक प्रक्रिया का सुपरिणाम कि मानव-मस्तिष्क की सृष्टि हुई। किन्तु मनुष्य को इस महान् सौभाग्य का ज्ञान नहीं था। उसने इस चमत्कार को—क्योंकि यह एक प्रकार से चमत्कार ही था—बहुत सहज भाव से स्वीकार कर लिया। उसने इस देन का उपयोग तो आरम्भ कर दिया, लेकिन इसे जाँचने-परखने की चिन्ता नहीं की और न इसकी यन्त्ररचना को समझने का प्रयत्न ही किया। मँगनी के बैल के दाँत देखना अकृतज्ञता का परिचायक होता। इस नये पथप्रदर्शक की बदौलत उसने बाहर नजर दौड़ायी और अपने इर्दगिर्द देखा। उसने जो कुछ देखा वह इतना रोचक, इतना कौतूहलपूर्ण, इतना रहस्यपूर्ण था कि उसने अपनी समस्त ऊर्जा विश्व के अनुसन्धान में लगा दी। इस कौतूहल-बोध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण चीज थी, इस विरोधी संसार के बीच उसकी अपनी विवश स्थिति की अनुभूति। उसे विरोधी संसार से अपनी रक्षा करनी थी; उसे अपने समस्त उपलब्ध साधनों का एक ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोग करना था और वह था मानवीय उद्देश्यों के लिए अपने परिवेश पर नियन्त्रण, स्वामित्व और अधिकार-स्थापन। अपने साधनों के विषय में शंका उठाने का, उपलब्ध शक्तियों की छानबीन और परीक्षण करने का उसे समय ही नहीं था। शिशु अपनी नवप्राप्त और तीव्रगति से बढ़ती हुई शक्तियों का उपयोग करना सहज भाव से जान लेता है; वह उनके स्वभाव अथवा उनकी यन्त्ररचना के सम्बन्ध में स्वप्न में भी नहीं सोचता। भाषा, जिसे वह इतनी कठिनाई से अर्जित करता है, उसे बिलकुल स्वाभाविक वस्तु जान पड़ती है। भाषा की उत्पत्ति और उसके स्वरूप, वागिन्द्रियों की संख्या, क्रिया और विकास जैसी बातों पर विचार करने की चिन्ता उसे कभी नहीं सताती।

इसीलिए यह तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं कि मनोविज्ञान, जिसका कार्यक्षेत्र मानव-मन है, नवीनतम विज्ञानों में से एक है। ऐसी बात नहीं है कि मनोविज्ञान के विकास के पूर्व मन का क्षेत्र सर्वथा अज्ञात था। किन्तु

इसकी कार्यप्रणाली की जानकारी सहजानुभूति या अन्तःप्रज्ञा का विषय थी, वैज्ञानिक पद्धति से संगृहीत सामग्री का विषय नहीं। उदाहरण के लिए, प्लेटो की यह उक्ति ली जा सकती है—"हमारे स्वभाव में एक वन्य पशु का निवास है, जो मांस और मद में लिप्त है," और जो हमारे सो जाने पर "जगता है और इधर-उधर नंगे घूमता है; नशे में बेहोश हो जाता है और कोई भी मूर्खता या अपराध नहीं (अगम्यागमन और पितृहत्या भी अपवाद नहीं है) जिसके लिए उसे दोषी नहीं ठहराया जा सके।. . . .हम सभी में, यहाँ तक कि भद्र लोगों में भी, एक ऐसा प्रसुप्त वन्य पशु-स्वभाव है, जो नींद में सिर उठाकर झाँकता है।" फ्रांसीसी लेखक दिदेरो में फ्रायड की पूर्वसूचना मिल जाती है—"यदि इस छोटे असभ्य को अपने-आप पर छोड़ दिया जाए और उसके शारीरिक तथा मानसिक दौर्बल्य एवं शिशु-सुलभ चेतना के साथ तीस वर्ष के पुरुष की वासनाओं की तीव्रता मिल जाए तो वह अपने पिता की गर्दन तोड़ दे और अपनी माता से सहवास करे।"

किन्तु ऐसी अन्तःप्रज्ञाएँ दुर्लभ थीं। सर्जन-प्रक्रिया, जिसमें मानव-मन प्रायः लग जाता है, साधारणतः यों ही स्वीकार कर ली गयी थी और इस क्रिया के परिणामों को अर्थात् कलाकृतियों को सामान्य मानवीय उपक्रम के फल के रूप में ग्रहण कर लिया गया था। इस अभिवृत्ति से कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि हम जानते हैं कि जादूगरी भी सामान्य मानवीय क्रिया समझी जाती थी और जादूगर के ही समान कलाकार को अलौकिक प्रतिष्ठा मिलती थी। किसी कलाकृति का रस-ग्रहण अपने-आप में पर्याप्त समझा जाता था। उसका विश्लेषण करना, उसे खण्डों में बाँटना और उसके निर्मायक तत्त्वों की छानबीन करना अधर्माचरण से कम नहीं था। कला के स्वरूप और कलाकार के मन की कार्यप्रणाली को समझना प्रत्यक्षतः बिलकुल असंगत था अथवा अधिक-से-अधिक कोई इनके सम्बन्ध में कुछ अस्पष्ट धारणाएँ बना सकता था अथवा कौतूहल और रहस्य की व्यंजना करने-वाले शब्दों को यत्किंचित् समझ सकता था। दूसरे शब्दों में, व्याख्याएँ अगर की भी जाती थीं तो वास्तव में वे किसी चीज को स्पष्ट नहीं कर पाती थीं; वर्ण्य विषय को आवृत करनेवाला अन्धकार छँट नहीं पाता था, उलटे वह और घना हो जाता था।

मनोविज्ञान के प्रादुर्भाव के पहले कला और कलाकार को अवैज्ञानिक

ढंग से परखा जाता था, किन्तु अवैज्ञानिक का अनिवार्य अर्थ अनालोचनात्मक नहीं है। क्रमबद्ध छानबीन का, ऐसी छानबीन का जो बुद्धि के आलोक में निरंतर चलती रहे, कोई प्रयत्न नहीं होता था।

अन्तःप्रज्ञा मार्गदर्शन कराती थी; कल्पना की सहायता से सत्य की खोज होती थी और कभी-कभी उसकी प्राप्ति भी हो जाती थी, किन्तु स्थिर, तटस्थ और वैज्ञानिक छानबीन का कोई प्रयास नहीं किया जाता था। इस प्रकार का प्रयास न तो प्रासंगिक ही समझा जाता था और न वांछित ही। कला को अलग-अलग वस्तु के रूप में ही देखा जाता था; दूसरी मानवीय क्रियाओं से इसे विच्छिन्न-सा कर दिया गया था। इसे एक वहुत ऊँचे सिंहासन पर बिठा दिया गया था। किसी भी आदमी से यही उम्मीद की जाती थी कि वह इसके सामने उपासक का श्रद्धा-भाव लेकर जाएगा; तटस्थ, वैज्ञानिक छानबीन की बुद्धि लेकर नहीं। जब मनोविज्ञान का, जिसका कार्यक्षेत्र मन है, विकास हुआ तब मनोविज्ञानी स्वभावतः कलाओं की ओर उन्मुख हुए, क्योंकि कलाएँ मानव-मन की क्रिया का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। मनोविज्ञानियों को नहीं लगा कि हम किसी वर्जित क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश कर रहे हैं। कलाकार के मन की कार्यप्रणाली की छानबीन करना उन्हें इस संसार में सर्वथा स्वाभाविक व्यापार प्रतीत हुआ। युंग ने कहा है, "यह तो बिलकुल साफ है कि मनोविज्ञान मन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। अतः उसे साहित्य के अध्ययन का भी माध्यम बनाया जा सकता है, क्योंकि मानव-मन सभी विज्ञानों और कलाओं का जनक है।"[१]

मनोविज्ञान को जो सर्वथा स्वाभाविक जान पड़ा, वह साहित्य के समालोचक को जरा भी स्वाभाविक नहीं लगा। मनोविज्ञानी ने सोचा कि मैं केवल अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ और यह भी सोचा कि मनोविज्ञान के अन्वेषणों से साहित्य-समालोचक को बहुमूल्य सहायता मिलेगी। समालोचक की मदद करने में मनोविज्ञानी बहुत उत्साही रहा है। "कलाकार की पद्धतियों और अभिप्रायों का वैज्ञानिक रूप में बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। गेटे और जोला, बाइरन और कीट्स, व्हागनर और बीथोवन, टर्नर और लियोनार्दो तथा अन्य अनेक कलाकारों के जीवन का पुनरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन हुआ है; उनके मानसिक विकास अथवा उनकी विशिष्ट कृति पर प्रकाश डाल सकनेवाली किसी भी चीज की उपेक्षा नहीं

की गयी है। मनोविज्ञानियों ने तो कवियों और चित्रकारों की संवेदनशीलता मापने और बौद्धिक शक्तियों की परीक्षा करने के लिए उन्हें अपनी प्रयोगशाला में भी खींचकर बुला लिया है।"[२] मनोविज्ञानी में जितना यह प्रशंसनीय उत्साह है, उतना ही अपरिमित आशावाद भी। उसकी मान्यता है कि मनोविज्ञान जीवन और साहित्य में क्रान्ति लाने जा रहा है। रिचर्ड्स ने लिखा है कि "यह बात बहुत दिनों से मानी जाती रही है कि यदि मनोविज्ञान के क्षेत्र में ऐसा कुछ कर दिया जाता जो भौतिक शास्त्र की उपलब्धि से थोड़ा-बहुत भी तुलनीय होता तो उससे जो व्यावहारिक परिणाम निकलते वे किसी अभियन्ता के हाथ लगनेवाले फल से अधिक उल्लेखनीय होते। मानस-शास्त्र के प्रथम विध्यात्मक परिणाम बहुत धीमी गति से आये हैं, किन्तु उन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण दृष्टि को बदलने का काम शुरू कर दिया है।"[३]

प्रारम्भ में औसत समालोचक मनोविज्ञानी के कार्यों को शंका की दृष्टि से देखता था और वह मनोविज्ञानी के अतिशयोक्तिपूर्ण दावे पर मुस्कुरा भर देता था जिसमें शायद विद्रूपता भी रहती थी। कभी-कभी यह आशंका भी की जाती थी कि मन की कार्यप्रणाली का अत्यधिक परिज्ञान घातक हो सकता है; चेतना का अत्याकस्मिक विस्तार खतरनाक हो सकता है। इससे शायद गोजर की बदकिस्मती हाथ लग जाती—

गोजर खुश था—बहुत खुश!
कि एक दिन मेढक ने मजाक में ही कहा—
"जरा यह तो बताओ कि कौन पैर बढ़ता है किसके बाद?"
इससे गोजर की शंकाएँ इतनी बढ़ गयीं
कि वह बदहवास होकर खाई में गिर पड़ा
और दौड़ना ही भूल गया।[४]

हमलोग साँस तो लेतेते हैं पर कैसे ले हैं, इसके बारे में शायद ही कभी मन में जिज्ञासा उठती है। इसी प्रकार यह माना जाता था कि कलाकार को अपनी कलासृष्टि करते जाना चाहिए, उसे अपनी शक्ति इसमें बरबाद नहीं करनी चाहिए कि वह कैसे काम कर पाता है। जिस प्रकार डॉक्टर शव का विच्छेदन करता है, उस प्रकार कला के विश्लेषण में प्रवृत्त न होकर समालोचक को भी अपना कार्य कला के रसग्रहण तक सीमित रखना चाहिए।

जब मनोविश्लेषक ने अपने तथाकथित मनोवैज्ञानिक आविष्कारों की उद्घोषणा की तो औसत समालोचक की, जो उसके प्रयत्नों को शंका की दृष्टि से देखता था, बहुत बड़ी अवमानना हुई। समालोचक ने इसे अवमानना की पराकाष्ठा माना। कला का पवित्र मन्दिर उसकी आँखों के सामने ही अपवित्र किया जा रहा था। जिन देवताओं की वह पूजा करता था वे काठ और पत्थर की प्रतिमाएँ मान लिये गये। कला के मन्दिर में जो कुछ भी सुन्दर था, उसे मनोविश्लेषक अपने भारी कदमों से कुचलता हुआ चल रहा था, उसके स्पर्श से सौन्दर्य कुरूपता में परिणत होता जा रहा था। अतः मनोविश्लेषण के आविष्कारों के विरोध में भयानक प्रतिक्रियाएँ उठ खड़ी हुईं। बुद्धि के आलोक में उनका परीक्षण नहीं किया गया। मनोविश्लेषक के कार्य में अटकलबाजी, भ्रान्त निष्कर्ष, अग्राह्य तर्क, असंगत मान्यताएँ, निरर्गल सामान्यीकरण, दुराख्यात (मिसइण्टर्प्रेटेड) तथ्य हो सकते थे, पर उसमें बहुत कुछ सचाई भी थी। किन्तु सचाई को झूठ और अर्धसत्य से बिलगाने का कोई प्रयास नहीं किया गया। मनोविश्लेषण के अनुसन्धान झट अस्वीकृत कर दिये गये। यह समझा गया कि मनोविश्लेषक मूढ़ हैं, जो अपने और अपनी मूढ़ता के प्रदर्शन में लगे हुए हैं। डेसमण्ड मेकार्थी ने कहा, "साहित्यिक समालोचना के क्षेत्र में मनोविज्ञानी का प्रवेश मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है। साहित्यिक समालोचना का सम्बन्ध मूल्यों से है, न कि ऐसे मूल्यों के मनोवैज्ञानिक उद्गम से। मनोविज्ञानी की कार्यविधि यह है : वह पहले मानसिक अवस्थाओं और मानवीय प्रवृत्तियों का अतिरंजित रूप में, जो विक्षिप्त अथवा घोर मनस्तापी में दिखायी देती हैं, अध्ययन करता है और नाना प्रकार की विकृतियों का वर्गीकरण प्रस्तुत करता है। इसके बाद प्रख्यात लेखकों में वह कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ ढूँढ़ निकालता है, जो उसे पागलों के अध्ययन में मिली थीं और उन प्रवृत्तियों पर वह पागलखाने की संज्ञाएँ भी थोप देता है। चिकित्सक-मनोवृत्ति का समालोचक यह सोचता है कि महान् स्रष्टा बाहर न रहकर चिकित्सालय के भीतर रोगी के रूप में भी रह सकते थे। वह कलाकार में बस उन्हीं तत्त्वों को देखता है जो पागलपन में मिलते हैं, इसके सिवा कुछ नहीं।"

और, इस प्रकार मनोविश्लेषण को त्याग दिया गया, पर प्रत्येक समालोचक ने ऐसा नहीं किया। ए० डब्लू० रैम्ज़ ने कहा है कि "नये सम्प्रदाय का

समालोचक यह जवाब देगा कि अपनी इस धारणा से हमलोग उस चीज से मुँह मोड़ रहे हैं जो हमें कला के समझने और रसग्रहण की नयी सूझ देगी। अगर अन्तरिक्ष में कोई ऐसा नया नक्षत्र उदित हो जाए जिसकी रोशनी में सुपरिचित वस्तुएँ कुछ विचित्र रूप धारण कर लें और अस्पष्ट वस्तुएँ स्पष्ट हो जाएँ, तो क्या हम हड़बड़ाकर भय के मारे अपने छोटे घरों में घुसकर दरवाजा बन्द कर लेंगे और खिड़कियों पर परदे खींच देंगे?"[५] और, वैसे लोगों में, जिन्होंने अपने छोटे घरों में हड़बड़ाकर घुसने से इनकार कर दिया है और जिन्होंने इन नये नक्षत्र का स्वागत किया है, रीड सबसे अधिक साहसी है। जैसा कहा गया है, वह "शायद उनलोगों में योग्यतम है जिन्होंने नवमनोविज्ञान के अनुसन्धानों का समालोचना के क्षेत्र में उपयोग करने का प्रयास किया है।"[६] रीड मनोविश्लेषण की ओर जो आकृष्ट हुआ है, उसके पीछे केवल नवीनता का मोह या मनोविकृति नहीं है। उसने अपनी स्थिति का तर्कसंगत विवेचन भी किया है : "हमारे युग की वैज्ञानिक मनोदशा ऐसी नहीं है जिसके साथ कलाकार या कलाकार का प्रतिनिधित्व करनेवाले समालोचक को समझौता करना ही पड़े। कला और विज्ञान सत्य का अनुसन्धान और उपस्थापन करने की अलग-अलग प्रणालियाँ हैं। किन्तु जब विज्ञान का ऐसा विभाग स्थापित हो गया जिसका विवेच्य विषय मन ही है, तो एक नयी परिस्थिति उठ खड़ी हुई क्योंकि विज्ञानी मानव-मन की उन सृष्टियों के, जिन्हें हम कला कहते हैं, सम्पर्क में आये बिना या उन्हें स्वीकार किये बिना, इस प्रदेश का अनुसन्धान नहीं कर सकता था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान साहित्य-समालोचक के क्षेत्र पर आक्रमण करता है, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है और उसे अचेतन पूर्वग्रहों की ओर खदेड़कर शून्य के रूप में छोड़ जाता है। मेरी यह धारणा रही है कि इस परिस्थिति में समालोचक को मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए और मनोविज्ञान से उसके चमकीले अस्त्रों को चुन लेना चाहिए। मैं धीरे-धीरे मनोवैज्ञानिक ढंग की साहित्यिक समालोचना की ओर खिंचता चला गया हूँ, क्योंकि मैंने यह समझा है कि मनोविज्ञान से, विशेषतः मनोविश्लेषण की पद्धति से, कवि के व्यक्तित्व, काव्य के शिल्प और कविता के रसग्रहण से सम्बद्ध अनेक समस्याओं की उचित व्याख्याएँ मिल सकती हैं।"[७]

रीड के अनुसार मनोविश्लेषण समालोचक की अनेक समस्याओं को सुलझा कर और मन के उन अँधेरे प्रदेशों को आलोकित कर, जो प्रकाश की

पहुँच के बाहर हैं, उसकी मदद कर सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषण में रीड की अभिरुचि साहित्य-समालोचक के हित को लेकर है। दोनों विज्ञानों के विवेच्य विषय में प्रत्यक्ष अन्तर के प्रति भी वह जागरूक है : "मनोविश्लेषण का सम्बन्ध मानसिक व्यापार की प्रक्रियाओं से है, साहित्य-समालोचना का सम्बन्ध कलासृष्टि से। मनोविश्लेषक कलासृष्टि का विश्लेषण उन प्रक्रियाओं को समझने के लिए करता है। इस दृष्टि से कला किसी भी दूसरी मानसिक अभिव्यक्ति के समान ही महत्त्वपूर्ण है, उससे अधिक नहीं। इसकी अर्थवत्ता में साहित्यिक मूल्य का कोई स्थान नहीं है। मनो-विज्ञानी साहित्यिक मूल्यों के प्रति उदासीन रहता है। यही नहीं, उनकी भर्त्सना भी कर सकता है, विशेषत: तब, जब वे किसी वस्तुनिष्ठ प्रतिमान या परम्परा के आग्रह पर आत्मनिष्ठ रम्यकल्पनाओं की काट-छाँट का प्रतीक हों।"[८]

इस मौलिक अन्तर के बावजूद रीड का विश्वास है कि मनोविज्ञान, विशेषत: मनोविश्लेषण, साहित्यिक समालोचना के सिद्धान्तों में निश्चित योगदान कर सकता है और हमारे काव्यविषयक रसग्रहण को गहराई भी दे सकता है।

इन विचारों के विरोध में रिचर्ड मार्च के विचारों को रखा जा सकता है। डेसमण्ड मैकार्थी से उसका अन्तर यह है कि वह मनोविश्लेषण के अनुसन्धानों के प्रति भावुक या उग्र ढंग से प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता। वह उनका दार्शनिक विश्लेषण करता है, उनकी असंगतियों का उद्‌घाटन करता है और यह निर्णय करता है कि वे अनुसन्धान "साहित्य-समालोचना की दृष्टि से असन्तोषजनक ही समझे जाने चाहिए।" उसकी दृष्टि में साहित्य-समालोचक के लिए मनोविश्लेषण सर्वथा अप्रासंगिक है। मनोविश्लेषण का कोई दूसरा उपयोग भी उसकी दृष्टि में नहीं है; वह उसे आडम्बरपूर्ण और अनर्गल मानता है। यहाँ मनोविश्लेषण और विज्ञान बनने के उसके दावों के विरोध में दिये गये रिचर्ड मार्च के तर्कों की परीक्षा करना अप्रासंगिक होगा। किन्तु मनोविष्लेषण के अनुसन्धानों में से एक की चर्चा संगत, अतः प्रासंगिक है —और वह है अचेतन का स्वरूप और जीवन में उसका महत्त्व। जॉर्ज ग्रोडेक ने इस सिद्धान्त के अतिवादी रूप को प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति को सर्वथा अचेतन की दया पर ही अवलम्बित बताया है। "मनुष्य अचेतन के द्वारा ही

अनुप्रेरित होता है। अचेतन उसके प्रत्येक क्रियाकलाप का नियन्त्रण करता है और जब कोई यह कहता है कि 'मैं जीता हूँ' तब वह अपने सम्पूर्ण अनुभव के एक बहुत छोटे और ऊपरी अंश को ही अभिव्यक्त करता है। सम्पूर्ण अनुभव है—'मैं अचेतन के द्वारा जीता हूँ'।"[९] व्यक्ति विवश है; वह एक ऐसी श्रेष्ठतर शक्ति का खिलौना है जिसे वह समझ नहीं पाता; वह निरंकुश स्वामी का दास है। "इस अचेतन के विरोध में खड़ा है—व्यक्ति का अहं, उसका 'मैं', जिसे मैं अचेतन का खिलौना भर मानता हूँ।" ग्रोडेक का यह भी कहना है कि "अचेतन अपने कार्यों को हमसे हमारे कार्य के रूप में मनवा लेता है; अचेतन के ही उद्देश्य और अनुभूतियाँ सचेतन मन के द्वारा निर्दिष्ट होकर, अहं के संकल्प और उद्देश्य के रूप में प्रकट होती हैं।"[१०] ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति दास के सिवा और कुछ नहीं रह जाता पर तुर्रा यह कि वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। वह किसी ऐसी अनुप्रेरणा द्वारा शासित होता है, जो सामान्यतः अचेतन की गहराइयों में सोयी रहती है और यह गुह्य, अचेतन अनुप्रेरणा ही उसके विचारों, अनुभूतियों और क्रिया-कलापों को संचालित करती है।

यह स्थापना मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि जैसा रिचर्ड मार्च ने बताया है, "व्यक्ति का भी निश्चित रूप से महत्त्व है। मानव-जीवन का कोई भी ऐसा सिद्धान्त, जो व्यक्ति के लक्ष्य अथवा यथार्थ सत्य की समस्याओं की अनदेखी करता है, विचारणीय नहीं माना जा सकता।"[११] यदि यह मान लिया जाए कि व्यक्ति का कोई महत्त्व ही नहीं है और अपने विचारों और क्रियाओं के लिए वह उत्तरदायी भी नहीं है, तो जीवन अर्थहीन हो जाएगा। जीवन का सारा महत्त्व, सारा मूल्य समाप्त हो जाएगा। जब तक हमलोग पागल नहीं हो जाते, तब तक हमलोग अपने प्रत्येक कार्य के लिए उत्तरदायी ठहरते हैं और इस उत्तरदायित्व से हम मुक्त नहीं हो सकते। लेयर्ड ने कहा है—"हमलोगों का क्रियाकलाप तभी उचित माना जा सकता है जब वह सर्वोत्तम हो और जब तक हमलोग उसका अनुसरण करते हैं तब तक हम नैतिक व्यक्ति ठहरते हैं। जब तक हम यह मानकर चलते हैं कि कोई काम सर्वोत्तम है और उसका अनुसरण होना चाहिए तब तक हम नैतिकता दिखाते हैं और अपने को नैतिक मानते हैं। यह विवेक का पाठ है और इसका महत्त्व इसमें है कि हम जानें कि हम क्या हैं और हमें क्या बनना है।"[१२]

उसी अधिकारी विद्वान् का एक दूसरा अनुच्छेद उद्धृत है : "हमलोगों को क्या करना चाहिए, इसका उत्तर यह है कि हमारे सामने जो कुछ है, उसका सर्वोत्तम ही हमारे लिए करणीय हो सकता है और यह तभी हो सकता है जब हमें इस बात की आजादी हो कि अपने कार्यों में चुनाव कर सकें। हमारा कर्त्तव्य निजी व्यक्तित्व की परिसीमाओं से बहुत बाहर फैला हुआ है। अपने इर्दगिर्द के संसार या दूसरों के व्यक्तित्व में हम जो भी परिवर्तन लाने में समर्थ हो जाते हैं, उसके लिए उत्तरदायित्व हमारा होता है और हमारी मृत्यु के बाद भी उन परिवर्तनों के परिणाम हमारे मत्थे ही मढ़े जाएँगे। हमारे कार्य हमारा अनुगमन अवश्य करते हैं। पुण्य कमाने के लिए हमें अकसर अपने को भुलाना पड़ेगा। हाँ, हम जिस चीज को भूल नहीं सकते, वह है हमारा उत्तरदायित्व जो निस्सन्देह हमारा ही रहेगा।"[१३]

इस सत्य का बोध ही जीवन को सार्थक और कला को मूल्यवान् बनाता है। मनोविश्लेषण के सामान्य निष्कर्षों से हमारा कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वे निष्कर्ष अखण्डनीय नहीं हैं और कम-से-कम उनमें विभिन्न व्याख्याओं की गुंजाइश तो है ही। ऑल्ड्रिच ने इसका विवेचन करते हुए कहा है—"एक प्रसिद्ध ग्रन्थि है—पिता-ग्रन्थि। यह ग्रन्थि आदमी को किसी के आदेश पर काम करने या पालतू बनाये जाने में प्रतिरोध का काम करती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थि युवा पशु का, संस्कृति के विरोध में, प्रतिरोध है। अधिकांश समाजों में पिता ही इन अरुचिपूर्ण आवश्यकताओं का प्रतीक होता है, किन्तु ट्रोब्रियण्ड द्वीप के निवासियों में, जहाँ उत्तराधिकार केवल माता की ओर से निर्धारित होता है, मामा ही वह प्रतीक बन जाता है। वहाँ बालक को मामा-ग्रन्थि होती है, पिता-ग्रन्थि नहीं। युंग ने बताया है कि समान रूप से ज्ञात माता-ग्रन्थि भी वास्तव में ऐसी कामशक्ति ही है जो जीवन और उसकी शैशवकालीन उन कठिनाइयों से पलायन है, जिनका प्रतीक माता होती है। जिस आदमी में माता-ग्रन्थि होती है, वह अधिकारसम्पन्न, अनुत्तरदायी, निरंकुश, दुलारा बच्चा ही बना रहना चाहता है। शक्तिकामना का यह एक शिशुसुलभ रूप ही है। यह कहा जा सकता है कि पिता-ग्रन्थि और माता-ग्रन्थि एक ही प्रवृत्ति के अलग-अलग पहलू हैं; पहले में कर्त्तव्य के प्रतीक से घृणा की जाती है और दूसरे में पलायन के प्रतीक से प्यार किया जाता है।"[१४]

इन सामान्य विचारणाओं पर आगे चलकर और भी विमर्श होगा। हमें एक विशेष बात पर, जिसका यहाँ प्रासंगिक महत्त्व अधिक है, ध्यान देना चाहिए। युंग ने कहा है कि "मनोविज्ञान के अनुसन्धान से जहाँ एक ओर यह अपेक्षा की जाती है कि वह कलाकृति के निर्माण की व्याख्या करेगा, वहाँ दूसरी ओर यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह उन उपादानों का उद्घाटन करेगा, जो किसी व्यक्ति को कलात्मक दृष्टि से रचनाशील बनाते हैं।"[१५] मनोविश्लेषक सिद्धान्त से मुड़कर व्यवहार पर भी जा सकता है और वह किसी विशिष्ट कलाकार की व्याख्या या किसी विशेष कलासृष्टि का विश्लेषण करने का प्रयास कर सकता है। वह समालोचना के कार्यों के विस्तार के लिए भी सुझाव दे सकता है। मनोविश्लेषण साहित्य-समालोचक के क्षेत्र से इन्हीं प्रणालियों के द्वारा सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है। समालोचक को मनोविश्लेषण से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। उसे इसमें अपनी अवमानना नहीं देखनी चाहिए और न घबरा कर अपने छोटे घर के दरवाजों और खिड़कियों को बन्द ही कर लेना चाहिए। उसे इस नयी विद्या की छानबीन करनी चाहिए और जानना भी चाहिए कि वास्तव में यह कोई नया नक्षत्र है या केवल चाक्षुष भ्रम।

✦ ✦ ✦

१. मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ ए सोल।
२. हाउ द माइण्ड वर्क्स : सिरिल बर्ट।
३. साइन्स एण्ड पोइट्री।
४. मेन्सियस ऑन द माइन्ड—रिचर्ड्स द्वारा उद्धृत।
५. ए० डब्लू रैम्ज़े के 'साइकॉलॉजी और क्रिटिसिज़्म' से उद्धृत।
६. साइकॉलोजी एण्ड क्रिटिसिज़्म (क्राइटीरियन)।
७. कलेक्टेड एसेज़।
८. वही।
९. स्क्रुटिनी, जून १९३६।
१०. दि वर्ल्ड ऑफ़ मैन।
११. १२. वही।

१३. स्क्रुटिनी, जून १९३६।

१४. दि आइडिया ऑफ़ द सोल।

१५. वही।

◆ ◆ ◆

२

मनोविश्लेषण और कला

(क)

मनोविश्लेषकों का दावा है कि मनोविश्लेषण उन कारणों का उद्घाटन कर सकता है जो किसी व्यक्ति को कलात्मक दृष्टि से सर्जनशील बनाते हैं। यदि मनोविश्लेषण और कुछ नहीं कर इतना ही कर पाता तो वह साहित्या-लोचन और मानवता दोनों ओर से श्रेय का भागी होता। संसार इस दिव्यज्ञान का बहुत दिनों से प्रतीक्षा करता रहा है और लगता है कि अब वह ज्ञान प्रकट हो गया है। कहा जाता है कि फ्रायड, ऐडलर और युंग ने यह नवीन ज्ञान हमें दिया है। हम एक-एक कर उनकी बातें सुनें अन्यथा उनके विरोधी सन्देश हमें उलझन में डाल दे सकते हैं।

१. फ्रायड— "कलाकार की मनोवृत्ति अन्तर्मुखी होती है और उसे रुग्णतन्त्रिक होने में बहुत देर नहीं लगती। वह ऐसा व्यक्ति है जो सहज एवं सबल आवश्यकताओं से प्रेरित होता है; वह सम्मान, शक्ति, सम्पत्ति, यश और नारी-प्रेम प्राप्त करना चाहता है किन्तु इन परितुष्टियों की प्राप्ति के साधनों से वंचित है। इसलिए असन्तुष्ट कामनावाले किसी दूसरे व्यक्ति के समान वह वास्तविकता से दूर हट जाता है और अपनी सारी अभिरुचि तथा सारी कामोत्तेजना को रम्यकल्पना के जीवन में अपनी इच्छाओं की सृष्टि की ओर लगा देता है जिससे मनस्ताप (न्युरोसिस) उत्पन्न होता है। उसके (कलाकार के) विकास को पूर्णता तक पहुँचने से रोकनेवाले अनेक मिले-जुले कारण हो सकते हैं। यह सुविदित है कि कलाकार अधिकतर अपनी शक्तियों के आंशिक निरोध से तथा मनस्ताप से ग्रस्त रहता है। सम्भवतः उसकी संरचना उदात्तीकरण की सबल शक्ति से और संघर्ष का निर्धारण करनेवाले दमनों की किंचित् नमनीयता से युक्त रहती है, किन्तु वास्तविकता पर लौटने का मार्ग इस प्रकार पाया जाता है : रम्यकल्पना का जीवन बितानेवाला एकमात्र वही नहीं है; कल्पना का अन्तर्वर्त्ती संसार सामान्य मानवीय सहमतियों से अनुशासित है

और प्रत्येक बुभुक्षित आत्मा उससे आराम और सान्त्वना चाहती है। किन्तु जो कलाकार नहीं है उसके लिए कल्पना के स्रोतों से उत्पन्न होनेवाली परितुष्टियाँ सीमित हैं। उसके कठोर दमन थोड़े दिवास्वप्नों को छोड़कर, जो सचेतन हो सकते हैं, सबका भोग रोक देते हैं। सच्चे कलाकार के जिम्मे बहुत कुछ रहता है। सबसे पहले वह जानता है कि अपने दिवास्वप्नों का किस प्रकार विस्तार करे जिससे उनकी वह वैयक्तिक विशेषता तिरोहित हो जाए जो अपरिचितों को अप्रीतिकर प्रतीत होती है और इस प्रकार वे दूसरों के लिए आनन्ददायक बन सकें। वह यह भी जानता है कि उनमें कैसे पर्याप्त संशोधन किया जाए जिससे निषिद्ध स्रोतों से उनकी उत्पत्ति सुगमता से नहीं पहचानी जा सके। साथ ही, उसमें वह रहस्यात्मक योग्यता भी होती है, जिससे अपनी विशिष्ट सामग्री को वह इस प्रकार ढाल दे कि कल्पनागत विचारों की यथावत् अभिव्यक्ति हो जाए।

हम संक्षेप में इस दिव्यज्ञान का विश्लेषण करें और काम की बातों पर ध्यान दें। कहा जाता है कि कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है। नवीन मानसिक अनुसन्धानों की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है। मैं दुहराऊँ कि कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है। असन्तुष्ट लालसावाले किसी भी अन्य मनस्तापी की तरह वह वास्तविकता से मुँह मोड़ लेता है और कल्पना का जीवन निर्मित कर लेता है 'जहाँ से मनस्ताप का मार्ग सीधा और सरल हुआ करता है'। किन्तु वह पूर्णतः मनस्तापी इसलिए नहीं बन जाता कि उसमें उदात्तीकरण की सबल क्षमता होती है, साथ ही संघर्ष का निर्धारण करनेवाले उसके दमनों में लचीलापन भी होता है। इसलिए वह वास्तविकता तक लौटने का मार्ग ढूँढ़ लेता है। कलाकार साधारण दिवास्वप्नदर्शियों से कुछ रूपों में भिन्न होता है और उन रूपों को भी लक्षित किया गया है। कलाकार अपने दिवास्वप्नों का विस्तार करना जानता है जिससे उनकी वैयक्तिकता का निराकरण हो जाता है। वह यह भी जानता है कि स्थूल दृष्टिवालों से इन दिवास्वप्नों की उत्पत्ति को कैसे छिपा रखा जा सकता है। उसमें एक रहस्यात्मक योग्यता होती है जिसके चलते वह अपनी रम्यकल्पना के विचारों को सचाई से अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है और अपने इस कल्पना-जीवन के विचारों को वह आनन्द की सबल धारा से सम्पृक्त कर सकता है। इस प्रकार, दूसरे मनस्तापियों को उनके आनन्द के अचेतन स्रोतों से आराम और सान्त्वना तक पहुँचने

का मार्ग दिखाकर, वह वास्तविकता तक लौटने का अपना मार्ग ढूँढ़ निकालता है और सम्मान, शक्ति एवं नारी-प्रेम की उसकी कामना सन्तुष्ट हो जाती है।"[१]

सामान्यतः कलाकार के सम्बन्ध में फ्रायड को यही कहना है किन्तु यह नवीन ज्ञान शायद ही सन्तोषजनक प्रतीत हो। फ्रायड के वक्तव्यों में से किसी की भी वैधता पर प्रश्न किये बिना, हालाँकि उनमें कई की मान्यता सन्देहास्पद है, यह प्रमाणित किया जा सकता है कि उनमें खोखलापन है। कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है—प्रामाणिक दिव्यज्ञानों में यह सबसे पहला है। हम दिव्यज्ञान की प्रामाणिकता में विश्वास तो नहीं करते, किन्तु इसे तत्काल स्वीकार कर लें। कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है, वह वास्तविकता से मुँह मोड़ लेता है और रम्यकल्पना का जीवन निर्मित करता है, ये कथन यद्यपि सर्वथा मान्य नहीं हैं, फिर भी इनमें स्पष्टता है; कुछ ऐसा है जो समझा जा सके। फ्रायड को इसका समाधान करना है कि कलाकार मनस्ताप से कैसे बच जाता है, किन्तु वैज्ञानिक व्याख्या के बदले (शायद कोई वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं है) वह बल देकर इतना ही कह सकता है कि कई ऐसे कारण मिल गये होंगे जिन्होंने मनस्ताप से उसकी रक्षा कर ली होगी। सम्भावना यह है कि कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी है ही नहीं और इसलिए मुक्ति की भी उसे आवश्यकता नहीं है। पर फ्रायड इस सम्भाव्यता को देखने को तैयार नहीं है। जो भी हो, वह हमें यह नहीं बताता कि ये कारण क्या हैं और न ठीक से इसी की व्याख्या करता है कि ये कारण मिलकर कलाकार को मनस्ताप से कैसे बचा लेते हैं। इस पूर्वग्रही कथन के अतिरिक्त फ्रायड की दूसरी देन यह कल्पना ही हो सकती है कि "शायद उसकी रचना में ही कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जिनमें उदात्तीकरण की सबल क्षमता होती है और संघर्षों का निर्धारण करनेवाले उनके दमनों में लचीलापन होता है।" हमें इस आपवादिक, नैसर्गिक शक्ति या उदात्तीकरण की सबल क्षमता की कोई सन्तोषप्रद वैज्ञानिक व्याख्या भी नहीं मिलती। क्या कलाकार में यह आपवादिक शक्ति इसलिए होती है कि वह कलाकार है? अथवा उदात्तीकरण की यह सबल क्षमता ही कलाकार को कलाकार बनाती है? फ्रायड इसका उत्तर नहीं देता। उसकी मताग्रही दृढ़ोक्ति और कल्पना दोनों मिलकर केवल इतना ही बता पाते हैं कि कलाकार मनस्ताप से इसलिए बच जाता है कि वह कलाकार होता है। इस व्याख्या से मनोविश्लेषक

को भले ही सन्तोष हो जाए, किन्तु इससे कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पाता। उदात्तीकरण की यह सबल क्षमता और संघर्षों का निर्धारण करनेवाले दमनों का यह लचीलापन या ऐसी दूसरी चीजें बहुत सारे दूसरे लोगों में भी मिल सकती हैं, जो कलाकार नहीं हैं, पर वे मनस्तापी नहीं होते जो केवल भाग्य की बात है। यदि आप भाग्यशाली हैं तो आप कलाकार या वैसा ही कुछ बन जाते हैं; अन्यथा आप मनस्तापी बनते हैं। यह ऐसी स्थिति है जो बहुत सच हो सकती है किन्तु इससे हमारी उलझन दूर नहीं होती।

जब फ्रायड इसकी व्याख्या करने की चेष्टा करता है कि कलाकार कैसे वास्तविकता तक लौटता है तब भी उससे सन्तोष नहीं होता। उसके द्वारा की गयी व्याख्या की विस्तृत परीक्षा आवश्यक नहीं है। कहते हैं कि सच्चा कलाकार साधारण दिवास्वप्नदर्शी से इस मानी में भिन्न है कि वह "अपने दिवास्वप्नों का विस्तार कैसे किया जाए यह समझता है जिससे उनकी वैयक्तिकता का लोप हो जाए और वे अपरिचितों को नहीं खटकें।" साधारण दिवास्वप्नदर्शी वैयक्तिक और एकान्तिक होता है। हमें फ्रायड की शब्दावली से कोई विवाद नहीं क्योंकि यह साहित्यिक आलोचना की शब्दावली नहीं है। इससे कलात्मक प्रक्रिया की कोई व्याख्या हमें प्राप्त नहीं होती। कोई कलाकार अपने दिवास्वप्नों का विस्तार कैसे करता है? उस आवेग की प्रवृत्ति क्या है जो दिवास्वप्नों का विस्तार करने के लिए कलाकार को बाध्य करती है? और विस्तार की यह प्रक्रिया क्या एक विशिष्ट प्रभाव को उत्पन्न करती है अर्थात् अपरिचितों को अप्रीतिकर लगनेवाली वैयक्तिकता का लोप कैसे हो जाता है? इन महत्त्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में फ्रायड कुछ नहीं कहता और न शायद कह सकता है। तात्पर्य यह कि कलात्मक प्रक्रिया अव्याख्यात रह जाती है। रहस्य रहस्य ही बना रहता है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित तथ्य नहीं बन पाता और फ्रायड की कलई खुल जाती है। वह कहता है कि कलाकार में अपनी विशिष्ट सामग्री को ढालने की रहस्यात्मक योग्यता होती है जो तब तक सक्रिय रहती है जब तक अपनी रम्यकल्पना के विचारों को वह यथावत् व्यक्त नहीं कर देता। यहाँ 'रहस्यात्मक' शब्द फ्रायड की कलई खोल देता है। स्पष्टतः यहाँ कुछ ऐसा है जिसे फ्रायड स्वयं नहीं समझता, जो उसे रहस्यात्मक प्रतीत होता है और इस प्रकार वैज्ञानिकता का दावा खण्डित हो जाता है; वैज्ञानिक शब्दावली अपर्याप्त

प्रमाणित होने लगती है और हमारी अभिवृत्ति विस्मय की हो जाती है जो मनोविश्लेषक को बहुत ही अवैज्ञानिक एवं असन्तोषप्रद प्रतीत हुई थी।

२. **ऐडलर**— फ्रायड के बाद ऐडलर अनिवार्य सोपान है, इसलिए अब हम ऐडलर की ओर मुड़ें जिसे रीड अधिक सन्तोषजनक मानता है। ऐडलर लिखता है कि "प्रत्येक मनस्ताप को, श्रेष्ठता की भावना की प्राप्ति के लिए, हीनता की भावना से मुक्ति का प्रयास समझना चाहिए।"[१] हीनता की इस भावना का उद्‌गम पारिवारिक परिवेश में होता है। "अपने बचपन में गरीबी, असामान्य दृष्टि अथवा असामान्य श्रवण जैसी अनेक बाधाओं से कष्ट पाकर और किसी विशेष रूप में बर्बादी का शिकार बनकर कलाकार हीनता की उग्र भावना से अपने को मुक्त करने का प्रयास करता है। भयानक रूप से महत्त्वाकांक्षी बनकर वह अपनी सीमित वास्तविकता से संघर्ष करता है, जिसे अपने लिए या दूसरों के लिए वह विस्तृत कर सके।"[३] किन्तु केवल कलाकार ही श्रेष्ठता की भावना से प्रेरणा ग्रहण नहीं करता। "चाहे कोई व्यक्ति कलाकार या अपने पेशे में सर्वप्रथम या परिवार में अत्याचारी बनना चाहता हो अथवा ईश्वर से वार्त्तालाप करना चाहता हो या दूसरों को नीचा दिखाना चाहता हो या अपने कष्ट को संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु मानता हो अथवा सभी सीमाओं और आदर्शों को तोड़कर अप्राप्य उद्देश्यों और प्राचीन देवताओं के पीछे दौड़ रहा हो, वह अपने गन्तव्य में प्रत्येक स्थल पर श्रेष्ठता की कामना, दिव्यता के विचार और अपनी विशिष्ट शक्ति में विश्वास से परिचालित एवं निर्देशित हुआ करता है।"[४] श्रेष्ठता की यह कामना हममें से बहुतों के अन्दर दबी रहती है जिसे "कवि में तो हर कोई जानता है किन्तु मुख्यतः यह रहस्यमय अन्धकार में छिपी रहती है और पागलपन अथवा हर्षातिरेक की दशा में ही निश्चित रूप से उभरकर सामने आती है।"[५] ऐडलर आगे कहता है कि "जो कोई दिव्यता का यह मार्ग गम्भीरता से अपनाएगा, उसे शीघ्र ही वास्तविक जीवन से भागने को और जीवन के भीतर एक अन्य जीवन की कल्पना कर उससे समझौता करने को बाध्य होना पड़ेगा। यदि वह भाग्यशाली रहा तो यह कला में सम्भव होगा, अन्यथा भक्तिप्रवणता, मनस्ताप या अपराध में।"[६]

कलाकार के सम्बन्ध में ऐडलर की बहुत ऊँची धारणा है। वह लिखता है कि कलाकार और प्रतिभाशाली व्यक्ति निःसन्देह मानवता के नेता हैं और

जो ज्वाला उन्होंने अपने बचपन में जलायी थी, उसमें जलकर उन्हें अपने साहस के लिए दण्ड भोगना पड़ता है। "मैंने कष्ट झेला, इसलिए मैं कवि हुआ।" "अपनी समुन्नत दृष्टि तथा रंग, रूप और रेखा के उत्कृष्टतर ज्ञान के लिए हम चित्रकारों के ऋणी हैं। अपना परिशुद्ध श्रवण और अपनी भाषणेन्द्रियों का सूक्ष्मतर संचालन हमने संगीतज्ञों से प्राप्त किया है। कवियों ने हमें बोलना, अनुभव करना और सोचना सिखाया है। हम कलाकारों, प्रतिभाशालियों, विचारकों, अनुसन्धायकों, आविष्कारकों की अमर उपलब्धियों पर परजीवियों के समान जीते हैं। वे मानवता के सच्चे नेता हैं। वे संसार के इतिहास की प्रेरक शक्ति हैं; हम तो केवल वितरक हैं।"[७]

वस्तुतः ऐडलर के विचार भी फ्रायड की अपेक्षा अधिक उपादेय नहीं हैं। जिन बातों की व्याख्या फ्रायड ने की है, उन्हें ऐडलर भी स्पष्ट नहीं कर सका है। कलाकार कलाकार है चूँकि वह मनस्तापी है और कलाकार मनस्तापी नहीं है चूँकि वह कलाकार है—ये दोनों बातें विरोधी हैं, जिन्हें फ्रायड और ऐडलर हमें बताते हैं। ऐडलर का सिद्धान्त फ्रायड के सिद्धान्त से मूलतः भिन्न नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार भी कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है। यदि भिन्नता है तो केवल मनस्ताप की व्याख्या में, जो इस प्रकार है : "श्रेष्ठता की भावना की प्राप्ति के लिए हीनता की भावना से मुक्ति का प्रयास।" श्रेष्ठता की यह भावना कल्पना के द्वारा अभिव्यक्त होती है। वास्तविकता से हटकर कलाकार जीवन के भीतर जीवन का सन्धान करना चाहता है जो उसके द्वारा निर्मित रम्यकल्पना का रूपान्तर है। फ्रायड के लिए **कला उदात्तीकरण** है; ऐडलर के लिए वह **क्षतिपूर्ति का रूप** है। किन्तु कला, वैसी कला जिसका कुछ महत्त्व हो, न तो उदात्तीकरण है और न क्षतिपूर्ति। जो भी हो, फ्रायड और ऐडलर में यही प्रधान भेद है। यह समन्वय, यह जीवन के भीतर जीवन कई तरह से प्राप्त किया जा सकता है—भक्तिप्रवणता में, मनस्ताप में अथवा अपराध में। यह केवल संयोग की बात है कि कलाकार अपनी मुक्ति कला में प्राप्त करता है। वह उसे अपराध या भक्तिप्रवणता में भी प्राप्त कर सकता था। संयोगवाली बात जैसी फ्रायड में है वैसी ही ऐडलर के सिद्धान्त में भी। कलाकार भाग्य से सामान्य मनस्तापी की स्थिति से बच जाता है, किन्तु जैसा हमने देखा है, प्रवृत्ति से वह मनस्तापी ही रहता है। हाँ, वह जिस रम्यकल्पना का निर्माण

करता है वह अपरिचितों को अप्रीतिकर लगनेवाली वैयक्तिकता से मुक्त होती है; उसे कलात्मक रूप और पूर्णता प्राप्त हो जाती है जिसके कारण वह महत्त्वपूर्ण बन जाती है। मनस्तापी रूपात्मक कल्पना का निर्माण नहीं कर सकता और इसीलिए वह मनस्तापी रह जाता है और उसका आन्तरिक जीवन अंशतः विश्रृंखल।

जैसा मैंने कहा है, फ्रायड की अपेक्षा ऐडलर के विचार अधिक सहायक सिद्ध नहीं होते। कम-से-कम इस विषय में वह फ्रायड का ही अनुसरण करता है। कलाकार के सम्बन्ध में उसके निष्कर्ष मुख्यतः वे ही हैं जो फ्रायड के। वह कलाकार, अपराधी, अत्याचारी, अहंमन्य, सन्त और महत्त्वाकांक्षी वेश्या के बीच कोई भेद नहीं करता। रामराज्य का स्वप्न देखनेवाला और उसके लिए प्रयास करनेवाला आदर्शवादी तथा जनता का सबसे बड़ा शत्रु, दोनों अपनी श्रेष्ठता की कामना, अपनी दिव्यता के विचार से ही प्रेरित और परिचालित होते हैं। ऐसा लगता है, जैसे अमर कविता और फैशन की पेटेण्ट दवा एक ही श्रेणी की चीजें हों।

ऐडलर सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया की व्याख्या नहीं करता और न हमें किसी कलाकृति के सौन्दर्यात्मक गुणों के सम्बन्ध में कुछ बताता है जिसमें उसकी शक्ति का स्रोत निहित रहता है। उसका अभिगम निश्चित रूप से अज्ञ का है जिसमें संवेदनशीलता का तो अभाव है ही, जो कभी-कभी असम्बद्ध भी मालूम होता है। वह दोष उसमें ही नहीं, फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषकों में भी वर्त्तमान है। कला की कोई वस्तु उनके लिए उस मानसिक प्रक्रिया का उदाहरणमात्र है जिसमें उनकी अभिरुचि है। कलात्मक और मानवीय मूल्यों में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। किसी कलाकृति को कलाकृति के रूप में समझने की तथा उसके रसास्वादन की उनमें न तो योग्यता है और न आवश्यक प्रशिक्षण या उपकरण ही। इसलिए इस दिशा में उनके प्रयास भद्दे तथा भूलों से भरे हैं।

ऐडलर संवेदनशीलता के इस अभाव की क्षतिपूर्ति कलाकारों की खुले दिल से प्रशंसा करके कर लेता है। उसके अनुसार कलाकार मानवता के नेता हैं। अपने साहस के लिए जो दण्ड वे भोगते हैं उससे वह परिचित है; उनके प्रति हम कितने ऋणी हैं, इसे वह जानता है। वह उनकी प्रशंसा दिल खोलकर करता है, "हम कलाकारों, प्रतिभाशालियों, विचारकों, अनुसन्धायकों की अमर उपलब्धियों पर परजीवियों की तरह जीते हैं। वे मानवता के वास्तविक

नेता हैं। संसार के इतिहास में वे प्रेरक शक्ति हैं; हम तो केवल वितरक हैं।" कलाकार का सबसे बड़ा समर्थक भी इस सम्मान-भावना में कोई दोष नहीं देख सकता। इसके अनुसार कलाकार निष्प्रयोजन कार्य में लीन निष्प्रयोजन व्यक्ति होकर गर्हा का पात्र नहीं बनता। किन्तु इसमें कोई नवीनता नहीं है, जिसके लिए हमें मनोविश्लेषण अथवा वैयक्तिक मनोविज्ञान के विकास की प्रतीक्षा करनी आवश्यक थी। शेली की प्रसिद्ध पंक्तियाँ इस विचार को अधिक जोरदार रूप में व्यक्त करती हैं: "कवि अगृहीत प्रेरणा के दीक्षागुरु हैं; वे उस विशाल छाया के दर्पण हैं जिसे भविष्य वर्त्तमान पर डालता है। जिसे वे समझते नहीं, उसे शब्द व्यक्त कर देते हैं; वे युद्ध की भेरी हैं पर यह अनुभव नहीं करते कि उनमें क्या प्रेरणा है; वे वह प्रभाव हैं जो दूसरों को तो चलाता है पर स्वयं नहीं चलता। कवि संसार के अमान्यताप्राप्त विधायक हैं।"[८]

मनोविश्लेषकों के दिव्यज्ञान को सुनते समय प्रायः ऐसा अनुभव होता है कि हम इन शब्दों को पहले भी सुन चुके हैं। स्वर भिन्न अवश्य हैं, शब्दावली और अभिगम भी अपरिचित और विचित्र लगते हैं, किन्तु जब हम आलोचनात्मक दृष्टि से इसकी परीक्षा करते हैं तो विचित्रता मिट जाती है। ऐसा लगता है कि जो प्रतिध्वनि हम सुन रहे हैं उसने मूलध्वनि को विकृत कर दिया है और यह विकृति ही विचित्रता की पहली भावना के लिए उत्तरदायी है।

हम नहीं समझ पाते कि नवीन अथवा प्राचीन मनोविश्लेषकों के तथाकथित आविष्कार साहित्य-समालोचक के लिए किस रूप में, कैसे सहायक हो सकते हैं। जो भी हो, हम कोई भी निर्णय करने के पहले रीड के भाषण को सावधानी से सुन लें जो वह मनोविश्लेषण के बचाव के लिए प्रस्तुत करता है—"ध्यान देने की प्रमुख बात यह है कि मनोविश्लेषण यह दिखाता हुआ-सा प्रतीत होता है कि कलाकार प्रथमतः प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है, किन्तु मानो कलाकार होने से वह अपनी प्रवृत्ति से बच जाता है और कला के द्वारा वास्तविकता पर पहुँचने का मार्ग पा लेता है। मेरी समझ से अब यह देखा जा सकता है कि आलोचक के लिए मनोविश्लेषण कहाँ सहायक हो सकता है और वह है किसी मनस्तापी प्रवृत्ति के उदात्तीकरण की वास्तविकता के सत्यापन में। किसी कलात्मक अथवा अर्धकलात्मक अभिव्यंजना में क्या

वास्तविक है और क्या मनस्तापी, इसका स्पष्ट विभाजन करने में मनोविश्लेषक समर्थ हो सकता है। साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है जो वास्तविकता की सीमा-रेखा पर है। इस सीमा-रेखा के वास्तविक रूप को किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से निश्चित कर सकना आलोचक के लिए उपयोगी होगा। किन्तु मैं फिर कहना चाहूँगा कि सामान्य आलोचनात्मक सिद्धान्तों की सहायता से भी आलोचक इस सीमा-रेखा को बहुत कुछ निर्धारित कर सकता है। पर सम्भवतः उस परीक्षण के लिए मनोविश्लेषण का मार्ग सुगमतर होगा; किसी भी स्थिति में वह पर्याप्त सन्तोषप्रद ढंग का गौण साक्ष्य तो दे ही सकता है।"[१]

स्पष्ट है कि रीड बिना संकोच और आलोचना के मनोविश्लेषण के इस निष्कर्ष को स्वीकार करता है कि कलाकार प्रथमतः प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है और कला एक प्रकार का उदात्तीकरण है। तत्काल इन निष्कर्षों के औचित्य पर विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है और न उस साक्ष्य पर, जिस पर ये निष्कर्ष आश्रित हैं। किन्तु यह दृढ़ता से कहा जा सकता है कि न तो कलाकार प्रथमतः प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है और न कला एक प्रकार का उदात्तीकरण है। रीड सम्भवतः यह जानता है कि जिस बात का वह बचाव कर रहा है वह निर्बल है; 'दीखता हुआ-सा प्रतीत होता है' में आत्मविश्वास की कमी है। पूरे सन्दर्भ में संशय का स्वर वर्त्तमान है, जैसे 'मैं सोचता हूँ', 'होना चाहिए', 'उपयोगी होगा', 'सुगमतर मार्ग हो सकता है', 'गौण साक्ष्य'। रीड का एकमात्र विध्यात्मक सुझाव यह है कि 'वास्तविकता की सीमा-रेखा के निश्चित रूप के निर्धारण' में आलोचक को मनोविश्लेषण से सहायता मिल सकती है। किन्तु आगे चलकर वह अपनी बात का यह कहकर स्वयं खण्डन कर देता है कि "सम्भवतः सामान्य आलोचनात्मक सिद्धान्तों से आलोचक इस सीमा-रेखा का स्वयं निर्धारण कर सकता है"। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषण से आलोचक को किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अपनी स्थिति को पुनः दृढ़ करते हुए आगे रीड कहता है, "इस परीक्षण में मनोविश्लेषण का मार्ग सुगमतर हो सकता है (क्या वस्तुतः वह सुगमतर मार्ग होगा?) और किसी भी स्थिति में वह पर्याप्त सन्तोषप्रद ढंग का गौण साक्ष्य तो दे ही सकता है।" इससे हम विशेष लाभान्वित नहीं होते। यह गौण साक्ष्य निश्चय ही अनपेक्षित वस्तु है। फिर भी, यह वांछनीय हो सकता है,

खासकर उनके लिए जिन्हें अपनी स्थिति में स्वयं सन्देह है और जिन्हें अपने निर्णय के समर्थन के लिए किसी अन्य स्वतन्त्र साक्ष्य की आवश्यकता है। इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं कि आलोचक मनोविश्लेषक के पास अपने निष्कर्ष की सम्पुष्टि के उद्देश्य से जाए। किन्तु जिस आलोचक में आवश्यक प्रशिक्षण और उपकरण हैं उसे मनोविश्लेषक के पास जाने की अपेक्षा नहीं।

३. **युंग**—मनोविश्लेषकों का शिविर आपस में ही विभाजित है और इस विभाजन के लिए उत्तरदायी है युंग। वह फ्रायड और ऐडलर से सहमत नहीं है और कभी-कभी उनका स्पष्ट खण्डन करता है। व्यक्ति के रूप में कलाकार और कलाकार के रूप में व्यक्ति के बीच अपेक्षित पार्थक्य को स्पष्ट करने का श्रेय उसे है। फ्रायड और ऐडलर के निष्कर्ष व्यक्ति के रूप में कलाकार के सम्बन्ध में सत्य हो सकते हैं, परन्तु कलाकार के रूप में व्यक्ति का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। युंग लिखता है, "प्रत्येक सर्जनशील व्यक्ति विरोधी अभिक्षमताओं (ऐप्टीच्युड) का द्वैत अथवा समन्वय होता है। एक ओर वह वैयक्तिक जीवन से युक्त मनुष्य है तो दूसरी ओर वह निर्वैयक्तिक सर्जनशील प्रक्रिया है। चूँकि मनुष्य के रूप में वह स्वस्थ या अस्वस्थ हो सकता है, इसलिए उसके व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्व को ठीक से जानने के लिए उसके मानसिक निर्माण को देखना हमारे लिए आवश्यक है। किन्तु कलाकार के रूप में उसे हम तभी समझ सकते हैं जब उसकी सर्जनशील उपलब्धियों को देखें। मनुष्य के रूप में उसकी व्यक्तिगत भावदशाएँ, इच्छाएँ और लक्ष्य हो सकते हैं, किन्तु कलाकार के रूप में वह उच्चतर अर्थ में मनुष्य है—वह सामूहिक मनुष्य है जो मानव-जाति के अचेतन मानसिक जीवन को आगे बढ़ाता ही नहीं, उसे खास साँचे में ढालता भी है। इस कठिन कार्य को करने के लिए उसे सुख तथा उन समस्त उपकरणों का, जो साधारण मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक हैं, बलिदान करना आवश्यक हो जाता है।"[१०]

युंग कलाकार के जीवन की असन्तोषजनक प्रकृति से परिचित है और वह उसकी इस प्रकार व्याख्या करता है : अपने जन्म के समय हमें मानो ऊर्जा की विशिष्ट राशि मिली थी। हमारे निर्माण में जो सबलतम शक्ति है वह इस ऊर्जा पर अपना एकाधिकार जमा लेती है और इसमें से इतना कम बच रहता है जिससे कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं निकल सकती। इस तरह

सर्जनात्मक शक्ति मानवीय आवेगों को इस अंश तक निस्सारित कर सकती है कि वैयक्तिक अहं सब तरह के दुर्गुणों—निर्दयता, स्वार्थपरता, गर्व—को विकसित कर ले जिससे जीवन में प्रकाश कायम रह सके और जीवन सर्वथा शून्य न हो जाए। ये उसके कलाकार होने के खेदजनक परिणाम के अलावा और कुछ नहीं हैं। तात्पर्य यह कि वह ऐसा व्यक्ति है जिसे अपने जन्म से ही साधारण मनुष्य की अपेक्षा गुरुतर कार्य करने होते हैं। 'विशेष क्षमता' का अर्थ है दिशाविशेष में शक्ति का अतिरिक्त व्यय जिसका अनिवार्य परिणाम जीवन के किसी दूसरे पक्ष पर पड़ता है।

'कलाकार का द्वैत' ऐसा विचार है जो अधिक व्यापक रूप से ग्राह्य हो सकता है। वह कलाकार को मनस्ताप के कलंक से मुक्त कर देता है और कला से उदात्तीकरण के कलंक को भी दूर कर देता है। कोई व्यक्ति कलाकार इसलिए नहीं कि वह मनस्तापी है; वह मनस्तापी इसलिए हो जाता है कि संयोग से कलाकार है और दिशाविशेष में उसकी ऊर्जा का अधिक व्यय हो रहा है जो परिणामतः जीवन के किसी दूसरे पक्ष से प्रवाहित होती है। फ्रायड ने बताया है कि कलाकार बहुधा मनस्ताप के चलते अपनी शक्ति के आंशिक दमन का शिकार होता है और मनस्ताप की इस स्थिति में वह अपने सिद्धान्त का प्रमाण ढूँढ़ता है कि कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है। युंग के अनुसार मनस्ताप कारण नहीं, बल्कि सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है जो मानवीय आवेगों को इस अंश तक निस्सारित कर देता है कि वैयक्तिक अहं सभी प्रकार के दुर्गुणों को विकसित कर लेता है। इन दोनों में युंग का सिद्धान्त कहीं अधिक मान्य है। आनुषंगिक रूप से यह भी देखा जा सकता है कि साहित्य का आलोचक मनोविश्लेषण की सहायता के बिना भी इस व्याख्या को प्रस्तुत कर सकता था।

मनोविश्लेषक का सम्बन्ध मुख्यतः मनस्ताप से है। उसका काम है प्रत्येक स्थिति में मनस्ताप को उसके उद्गम-स्रोत तक ढूँढ़ना और उस उद्गम-स्रोत को दुःखी के समक्ष व्यक्त करना। सभी प्रकार के मनस्ताप के साथ यह सतत संलग्नता मनोविश्लेषक की दृष्टि को सीमित कर देती है और उसमें पक्षपात ला देती है। उदाहरणार्थ, जो लोग पागलों के सम्पर्क में सदा रहते हैं, उनकी प्रकृति सन्देही हो जाती है और वे सर्वत्र, यहाँ तक कि सर्वथा निर्दोष कार्यों में भी, पागलपन देखने लगते हैं। जब कोई किसी वस्तु के अतिनिकट सम्पर्क

में रहता है तो वह उसके लिए अत्यन्त बृहत् बन जाती है और उचित से अधिक महत्त्वपूर्ण दीखने लगती है; वह अपरिहार्य भी प्रतीत हो सकती है। मनोविश्लेषक के निष्कर्ष दूषित तो हैं ही, उतने अपरिहार्य भी नहीं हैं जितने दीखते हैं।

जब युंग सामूहिक मनुष्य की बात करने लगता है तो उसे समझना अथवा उसके सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। वह कहता है कि मनुष्य के रूप में कलाकार की भावदशाएँ, इच्छाएँ या व्यक्तिगत लक्ष्य हो सकते हैं, किन्तु कलाकार के रूप में वह उच्चतर अर्थ में मनुष्य है; वह 'सामूहिक मनुष्य' है जो मानव-जाति के अचेतन मानसिक जीवन को आगे बढ़ाता है और एक ढाँचे में ढालता है। यदि इसका केवल इतना ही अर्थ हो कि अपने कार्य से कलाकार अपरिचित कानों को अप्रीतिकर लगनेवाले वैयक्तिक अंश का **परिहार** कर सकता है और उसे दूसरों के लिए अधिक आनन्ददायक बना सकता है तब तो यह तर्कसंगत है। युंग की यह धारणा कि कलाकार 'सामूहिक मनुष्य' होता है, उसके 'सामूहिक अचेतन' के सिद्धान्त के साथ आबद्ध है और यह पर्याप्त विवाद का सिद्धान्त है जिसकी चर्चा अन्यत्र की जाएगी। विवेच्य समस्या के प्रसंग में युंग की सबसे महत्त्वपूर्ण देन, वस्तुतः उसकी एकमात्र देन, 'सामूहिक मनुष्य' के रूप में कलाकार को देखनेवाली धारणा ही है। परीक्षण के बाद यह धारणा अमान्य भी प्रमाणित हो जाए, फिर भी यह धारणा रोचक है, इसमें सन्देह नहीं।

स्पष्ट है कि कलाकार के सम्बन्ध में मनोविश्लेषक कुछ कहने में असमर्थ है। निश्चय ही वह जो कुछ कहता है वह न तो उतना महत्त्वपूर्ण और न सार्थक, जितने का हमें विश्वास दिलाया जाता है। कलाकार प्रथमतः प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है और किसी प्रकार कला के माध्यम से वह वास्तविकता तक लौटने का मार्ग ढूँढ़ता है। ये तथ्य वैज्ञानिक प्रमाण से पुष्ट होने पर भी साहित्यिक आलोचना में क्रान्ति उपस्थित नहीं करते। यदि हो भी, तो इसका लाभ निषेधात्मक ही है। अब कलाकार के पास विशिष्ट स्वच्छन्दतावादी प्रणाली या सम्भ्रमपूर्ण समादर की भावना से जाना सम्भव नहीं होगा। किन्तु मनोविश्लेषण की सहायता के बिना भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को आसानी से अमान्य ठहराया जा सकता है। ये तथ्य वैज्ञानिक बुद्धिवाले व्यक्ति को थोड़ा सन्तोष दे सकते हैं कि कलाकार के सम्बन्ध में वह सब कुछ जानता है

और कला के किसी खास नमूने का सही-सही वर्गीकरण, नामकरण और निर्धारण हो चुका है। ये तथ्य औसत आदमी को एक दूसरे प्रकार का सन्तोष दे सकते हैं कि वह कलाकार की तुलना में अपने को श्रेष्ठ समझे क्योंकि कलाकार बेचारा तो केवल मनस्तापी है, दिव्यतासम्पन्न कोई श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं, किन्तु यह देखकर कि इन तथ्यों के सम्बन्ध में स्वयं विज्ञानियों की पारस्परिक असहमति है और युंग एक सर्वथा नयी व्याख्या लेकर उपस्थित हुआ है, औसत या साधारण आदमी उलझन में भी पड़ सकता है।

(ख)

मनोविश्लेषकों का कहना है कि कला एक प्रकार की रम्यकल्पना है। फ्रायड कहता है कि रम्यकल्पना "सामान्य मानवीय सहमति से स्वीकृत होती है और सुख-सांत्वना के लिए प्रत्येक बुभुक्षित आत्मा को उसकी आवश्यकता होती है।" व्यक्ति के जीवन में इसकी प्रकृति और उपयोग की वह ऐसे व्याख्या करता है: "आप जानते हैं कि वास्तविकता को समझने और वास्तविकता के सिद्धान्त का अनुसरण करने की बाह्य आवश्यकता के प्रभाव से मनुष्य का अहं प्रशिक्षित होता है और ऐसा करने में उसे आनन्देच्छा के, जिसमें कामेच्छा भी शामिल है, विविध उद्देश्यों को स्थायी या अस्थायी रूप में त्यागना आवश्यक होता है। किन्तु आनन्द का त्याग मनुष्य के लिए सदा ही कठिन रहा है; वह बिना किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति के त्याग नहीं कर सकता। तदनुसार उसने अपने लिए एक प्रकार की मानसिक सक्रियता विकसित कर रखी है जिसमें आनन्द के ये सभी परित्यक्त स्रोत और आनन्द के परिहृत मार्ग अपना अस्तित्व बनाये रखने की स्वीकृति पा जाते हैं। अस्तित्व का यह ऐसा रूप है जिसमें वे वास्तविकता की माँग से, और जिसे हम 'परीक्षणकारी वास्तविकता' कहते हैं, उसके अभ्यासों से मुक्त रहते हैं। प्रत्येक कामना तुरत उसकी पूर्ति के विचार में रूपान्तरित हो जाती है, इसलिए रम्यकल्पना में इच्छापूर्ति का वर्णन करना निस्सन्देह सन्तोष प्रदान करता है, यद्यपि इसका भी स्पष्ट ज्ञान बना रहता है कि यह वास्तविकता नहीं है। इसलिए मनुष्य रम्यकल्पना में बाह्य संसार के बन्धन से मुक्ति का आनन्द उठाता ही रहता है जिसे वह वास्तविकता में छोड़ चुका होता है। वह बारी-बारी से आनन्द

उठानेवाला पशु और तार्किक प्राणी बना रहता है, क्योंकि वास्तविकता से जो अल्प संतोष वह प्राप्त करता है उससे उसकी बुभुक्षा शान्त नहीं होती।"[११]

जीवन का अर्थ है हमारे अनेक आवेगों का उत्सर्ग। हमारी महत्त्वाकांक्षा की अहंवादी लालसाएँ, हमारी शक्ति की प्यास, हमारी सभी शृंगारिक इच्छाएँ सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं। बाहरी आवश्यकता के दबाव में हमें उनका त्याग करना पड़ता है। जीवन, जैसा है, कोई शानदार भोज नहीं जिसमें जी भर-कर हम अपने को तृप्त कर सकें। समृद्धि के बीच हमें भूखे रहना पड़ता है। यह बाध्यतामूलक त्याग हमें सन्तोष नहीं देता; यह हमें कठोर और अनुचित भी प्रतीत होता है। उस वास्तविकता से हटकर, जो हमारे आवेगों और इच्छाओं की सन्तुष्टि में बाधक होती है, हम इस सन्तुष्टि को अन्यत्र पाना चाहते हैं—अन्यत्र अर्थात् मानसिक सक्रियता में, जिसमें आनन्द के सभी परित्यक्त स्रोत और संतुष्टि के परिहृत मार्ग अपना अस्तित्व बनाये रखने की स्वीकृति पा जाते हैं। यह मानसिक सक्रियता 'रम्यकल्पना' कहलाती है और यह मानसिक सक्रियता ही जीवन को सह्य बनाती है। हमें जीवन से जो प्राप्त नहीं होता वह रम्यकल्पना से प्राप्त हो जाता है। यह रम्यकल्पना, यह मधुर प्रवंचना ही वह वस्तु है जो स्वाधीनता का भ्रम उत्पन्न करती है, उस स्वाधीनता का, जो वस्तुतः हमें उपलब्ध है। यह रम्यकलपना ही वह छलनामयी अप्सरा है जो हमारे आवेगों और अभीप्साओं के नैराश्य की क्षतिपूर्ति करती है। यह क्षतिपूर्ति बहुत सारवान् नहीं होती। वस्तुतः प्रवंचना कभी पूर्ण नहीं हो सकती। हम सदा इस आत्मवंचना से अवगत रहते हैं। धोखा धोखा ही रहता है। यह वास्तविकता नहीं है, इसका ज्ञान कभी धूमिल नहीं होता। हम जो सन्तोष प्राप्त करते हैं वह अकिंचित्कर होता है, फिर भी हमारी भूखी आत्मा उत्सुकतापूर्वक उससे लिपट जाती है।

इस क्षतिपूर्ति के बिना, या यों कहें कि दिवास्वप्नों के बिना, जीवन बहुत असह्य और अप्रिय हो जाएगा। अपने दिवास्वप्नों में हम ऐसे दृश्यों और घटनाओं को उत्पन्न कर सकते हैं जो हमारी अहंवादी लालसाओं और शृंगारिक इच्छाओं को सन्तुष्ट करती हैं। फ्रायड के अनुसार ये दिवास्वप्न ही काव्य-रचना के उपादान बनते हैं, क्योंकि लेखक इन्हें ही रूपान्तरित, तिरोहित अथवा ह्रसित कर, इन दिवास्वप्नों के भीतर से ही उन स्थितियों को उत्पन्न करता है जिन्हें अपनी कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में समाविष्ट

करता है। दिवास्वप्न का नायक स्वयं विषय होता है जिसकी अंशतः प्रत्यक्ष कल्पना कर ली जाती है अथवा जिसकी किसी दूसरे पात्र से एकरूपता स्थापित कर दी जाती है।[१२] फ्रायड के अनुसार कला की प्रत्येक वस्तु दिवास्वप्न है—भले ही वह दिवास्वप्न आवश्यकतानुसार रूपान्तरित, तिरोहित अथवा ह्रसित हो। वह दिवास्वप्न सामान्य दिवास्वप्न से सर्वथा भिन्न दीख सकता है, किन्तु उसकी भिन्नता केवल बाह्य होती है, वास्तविक नहीं। उस दिवास्वप्न को ठोस आकार दे दिया जाता है; उसमें सौन्दर्यात्मक गुण समाहित कर दिये जाते हैं और ये सौन्दर्यात्मक गुण ही उस बाह्य भिन्नता के कारण बनते हैं। उसका विस्तार इस रूप में किया जाता है कि अपरिचितों को अप्रीतिकर लगनेवाले वैयक्तिक अंश का उसमें से परिहार हो जाता है और इस प्रकार वह दूसरों के लिए आनन्द का साधन बन जाता है। किसी कलाकृति में दिवास्वप्न भी पर्याप्त आपरिवर्त्तित हो जाता है और यह आपरिवर्त्तन (मॉडिफिकेशन) उसकी उत्पत्ति और उसकी वास्तविक प्रकृति को ढक देता है। किन्तु जो लोग कलात्मक विस्तार और आपरिवर्त्तन को अच्छी तरह देख सकते हैं उनके लिए निषिद्ध स्रोतों में भी उस कलाकृति की उत्पत्ति सर्वथा स्पष्ट प्रतीत होती रहती है।

रम्यकल्पना के समान कला भी वास्तविकता के परीक्षण की माँगों से मुक्त रहती है। उसका लक्ष्य हुआ करता है उन इच्छाओं की पूर्ति जिन्हें वास्तविक जीवन में प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। फ्रायड लिखता है कि "मनुष्य सुख ढूँढ़ता है, वह सुखी होना और रहना चाहता है। इस प्रयत्न के दो पहलू हैं—एक विध्यात्मक और दूसरा निषेधात्मक; एक ओर उसका लक्ष्य होता है दुःख और असुविधा को दूर करना और दूसरी ओर तीव्र आनन्द की अनुभूति करना।"[१३] कला इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करती है जिनके लिए मनुष्य सचेष्ट रहता है। कम-से-कम अस्थायी रूप से ही सही, वह कष्ट और असुविधा को भूलने में हमारी सहायता करती है, साथ ही वह स्थायी आनन्द का कारण भी बनती है। कलाकृति की उत्पत्ति और उपभोग (आस्वादन) को फ्रायड रम्यकल्पनाजनित आनन्दों से आगे रखता है। जो स्वयं कलाकार नहीं हैं, जो स्वयं रचना नहीं कर सकते वे कलाकार की सहायता से रम्यकल्पनाजनित आनन्दों का उपभोग कर सकते हैं जिनसे उन्हें जीवन की कठिनाइयों से अस्थायी त्राण मिलता है। फ्रायड लिखता है कि

"जो कला के प्रभाव के प्रति संवेदनशील हैं वे यह नहीं जानते कि उसे जीवन में सुख और सांत्वना के स्रोत के रूप में कितना ऊँचा स्थान दिया जाए।"[१४] औसत आदमी की तरह कलाकार भी जीवन में सुख और सांत्वना चाहता है और वह इस सुख और सांत्वना को कलासृष्टि से प्राप्त करता है। केवल कलाकार ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति, जो मानसिक और भौतिक कार्यों से आनन्द पाने की क्षमता को विकसित करने की योग्यता रखता है, उस सुख और सांत्वना को प्राप्त कर सकता है। फ्रायड का कहना है कि कलाकार को रचना के आनन्द से अथवा वैज्ञानिक को किसी समस्या के समाधान या किसी तथ्य के आविष्कार से जो सन्तोष प्राप्त होता है, उसमें एक प्रकार का वैशिष्ट्य रहता है। एक-न-एक दिन अधिमनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम उसे निश्चय ही निरूपित कर लेंगे। तब तक हम केवल रूपक की भाषा में इतना ही कह सकते हैं कि वह सन्तोष हमें उच्चतर और सूक्ष्मतर प्रतीत होता है।

फ्रायड एक सीमा का संकेत करता है। नियमतः कला जनसाधारण के लिए अगम्य होती है। कलाजनित सन्तुष्टि कुछ सुसंस्कृत व्यक्तियों तक ही सीमित रहती है। फ्रायड कहता है कि कला "प्राचीनतम सांस्कृतिक त्यागों के बदले सन्तुष्टि प्रदान करती है।" आगे वह फिर कहता है कि "सभ्यता का निर्माण, प्रारम्भिक आवेगों की सन्तुष्टि के त्याग के द्वारा, जीवन-संघर्ष के दबाव में हुआ है और उसका काफी हद तक सदा नवीकरण होता रहता है जब प्रत्येक व्यक्ति क्रमशः समुदाय का अंग बनकर, सामूहिक लाभ के लिए, अपने सहज आनन्दों का बार-बार त्याग करता है। इस प्रकार के उपयोग में आनेवाली सहज शक्तियों में यौन शक्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस भाँति उनका उदात्तीकरण होता है अर्थात् यौन उद्देश्यों से हटकर उनकी ऊर्जा दूसरे उद्देश्यों की ओर मुड़ जाती है जो यौन न रहकर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् बन जाती है।" हमारे यौन तथा अन्य प्रारम्भिक आवेगों के त्याग के बदले कला और दूसरी सांस्कृतिक क्रियाएँ सन्तुष्टि प्रदान करती हैं। यह त्याग समाज का प्रत्येक सदस्य करता है, किन्तु उसके एवज में कला से जो सन्तुष्टि मिलती है, वह कुछ सुसंस्कृत लोगों को ही उपलब्ध होती है। देहतोड़ श्रम करनेवाले सामान्य जन, जिन्हें वैयक्तिक शिक्षा प्राप्त नहीं है, उस सन्तुष्टि का उपभोग नहीं कर सकते। जो भी हो, कला रम्यकल्पना के आनन्दों का आस्वादन करनेवालों को, उनके द्वारा संस्कृति के लिए किये गये त्यागों से पुनर्मेलित

कर सकती है। फ्रायड का यह भी कहना है कि दूसरी ओर कलाकृतियाँ तादात्म्य की भावना को बढ़ाती हैं जिसकी आवश्यकता प्रत्येक सुसंस्कृत समूह को हुआ करती है, क्योंकि उनसे मूल्यवान् संवेगात्मक अनुभूतियों की सहभागिता का अवसर मिलता है और जब वे किसी विशिष्ट संस्कृति की उपलब्धि का चित्रण करती हैं तो आत्मरत्यात्मक सन्तुष्टि को भी अभिवृद्ध करती हैं।[१५]

परिणामतः कला हमारे यौन तथा अन्य प्रारम्भिक आवेगों का उदात्तीकरण है। वह इन आवेगों के त्याग के बदले सन्तुष्टि प्रदान करती है और जब किसी विशिष्ट संस्कृति की उपलब्धियों का चित्रण करती है तो वह सन्तुष्टि आत्मरत्यात्मक हो जाती है। इन विचारों के सत्यासत्य की चर्चा करना अभी मेरा उद्देश्य नहीं है। ये यदि स्वीकार्य नहीं हैं तो इसलिए कि इनमें सत्य और अर्द्धसत्य वर्त्तमान हैं। इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य है। फ्रायड सौन्दर्यात्मक मूल्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता जो साहित्यिक आलोचक के लिए बहुत महत्त्व का है। इस अभियोग से रीड फ्रायड की रक्षा करता है। उसके अनुसार फ्रायड इसकी चर्चा नहीं करने का दोषी नहीं है। फ्रायड निश्चय ही सौन्दर्यात्मिक मूल्यों के प्रश्न की उपेक्षा नहीं करता और न यही कहता है कि रम्यकल्पना का प्रत्येक उदात्तीकरण कलाकृति है। कलाकार में अपनी रम्यकल्पनाओं के वस्तुनिष्ठ रूप को इस प्रकार ढालने की विशिष्ट योग्यता (जिसे फ्रायड 'रहस्यात्मक' कहता है) रहती है कि उसकी परिणति निश्चित आनन्द में होती है और वह आनन्द रम्यकल्पना से स्वतन्त्र तथा भौतिक समानुपात, विन्यास, स्वर, सामंजस्य एवं अन्य समस्त विशिष्ट तथा वस्तुनिष्ठ गुणों के कारण होता है जिन्हें हम किसी कलाकृति में स्वीकार करते हैं। कलाकृति में इस वस्तुनिष्ठ शक्ति का वह एक ही समाधान करता है कि कलाकार का शिल्प किसी तरह वैयक्तिक अहं के अवरोधों को दूर कर उन्हें सामूहिक अहं से एकाकार कर देता है। वह बताता है कि कलाकृति के विशुद्ध रूपात्मक और सौन्दर्यात्मक तत्त्व आनन्दातिरेक या प्रारम्भिक प्रलोभन की सृष्टि करते हैं और वह जब एक बार हमारी संवेदनशीलता को प्रभावित करता है तो गम्भीरतर स्तरों से उत्पन्न होनेवाले गौण एवं श्रेष्ठ प्रकार के आनन्द की मुक्ति का मार्ग खोल देता है। वह कहता है : "मेरा विश्वास है कि सर्जनशील कलाकार हममें जो सौन्दर्यात्मक आनन्द उत्पन्न करता है उसका

एक प्राथमिक वैशिष्ट्य होता है और किसी कलाकृति से वास्तविक आनन्दानुभूति इस कारण होती है कि वह मानसिक तनाव से हमें राहत देती है।"[१६]

यह सच है कि फ्रायड यह नहीं कहता कि रम्यकल्पना का प्रत्येक उदात्तीकरण कलाकृति है; यह भी सच है कि वह कलाकार में रहनेवाली किसी रहस्यात्मक क्षमता की चर्चा करता है जो रम्यकल्पना के वस्तुनिष्ठ रूप को ऐसे ढाल देती है कि उसकी परिणति निश्चित आनन्द में हो जाती है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। वह हमें यह नहीं बताता कि किसी कलाकृति का मूल्यांकन कैसे करना चाहिए तथा विभिन्न कलाकृतियों के सापेक्ष मूल्य का निर्धारण कैसे करना चाहिए। और, कलाकार की जिस रहस्यात्मक क्षमता की बात वह कहता है वह रहस्य ही रह जाती है, क्योंकि फ्रायड इसकी व्याख्या नहीं करता कि वह (क्षमता) किस रूप में काम करती है। कलाकृति की वस्तुनिष्ठ शक्ति की व्याख्या भी बहुत मान्य नहीं है। फ्रायड कलाकृति की वस्तुनिष्ठ शक्ति से अवगत है और उससे हमें जो आनन्द और सन्तुष्टि मिलती है, उससे भी अवगत है। उसका यह भी सिद्धान्त है कि कलाकृति एक प्रकार का उदात्तीकरण है। ऐसी स्थिति में उसे यह व्याख्या करनी चाहिए कि व्यक्तिगत और निजी आवेग अथवा इच्छा का उदात्तीकरण कैसे 'शाश्वत आनन्द' बन सकता है। फ्रायड का कहना है कि इसकी व्याख्या कलाकार की रहस्यात्मक शक्ति में निहित है, किन्तु यह तो व्याख्या हुई नहीं।

(ग)

कहते हैं कि उत्पत्ति की दृष्टि से सभी कलाएँ एक प्रकार की क्रीड़ा हैं। "जो व्यक्ति संगीत की स्वर-रचना करता है और जो संगीत सुनता है, दोनों एक प्रकार की क्रीड़ा में संलग्न हैं। वे अपने भावों से क्रीड़ा कर रहे हैं।"[१७] यहाँ 'क्रीड़ा' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि जो काम किया जा रहा है, वह उपयोगी नहीं है। कलात्मक क्रिया की इस बाह्य अनुपयोगिता पर विभिन्न युगों के विचारशील लेखकों का ध्यान गया है। प्लेटो का भी तर्क था कि अभिनेता को हमारी नैतिकता समुन्नत करनी चाहिए और १८वीं शताब्दी में कुछ लेखकों ने कहा कि "बिल्लियों की क्रीड़ा चूहों को भगाने के लिए उपयोगी है।"[१८] किसी कलाकृति का मूल्य इतना स्पष्ट है कि उसे अस्वीकार

कर सकती है। फ्रायड का यह भी कहना है कि दूसरी ओर कलाकृतियाँ तादात्म्य की भावना को बढ़ाती हैं जिसकी आवश्यकता प्रत्येक सुसंस्कृत समूह को हुआ करती है, क्योंकि उनसे मूल्यवान् संवेगात्मक अनुभूतियों की सहभागिता का अवसर मिलता है और जब वे किसी विशिष्ट संस्कृति की उपलब्धि का चित्रण करती हैं तो आत्मरत्यात्मक सन्तुष्टि को भी अभिवृद्ध करती हैं।[१५]

परिणामतः कला हमारे यौन तथा अन्य प्रारम्भिक आवेगों का उदात्तीकरण है। वह इन आवेगों के त्याग के बदले सन्तुष्टि प्रदान करती है और जब किसी विशिष्ट संस्कृति की उपलब्धियों का चित्रण करती है तो वह सन्तुष्टि आत्मरत्यात्मक हो जाती है। इन विचारों के सत्यासत्य की चर्चा करना अभी मेरा उद्देश्य नहीं है। ये यदि स्वीकार्य नहीं हैं तो इसलिए कि इनमें सत्य और अर्द्धसत्य वर्त्तमान हैं। इस प्रसंग में एक वात ध्यान देने योग्य है। फ्रायड सौन्दर्यात्मक मूल्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता जो साहित्यिक आलोचक के लिए बहुत महत्त्व का है। इस अभियोग से रीड फ्रायड की रक्षा करता है। उसके अनुसार फ्रायड इसकी चर्चा नहीं करने का दोषी नहीं है। फ्रायड निश्चय ही सौन्दर्यात्मक मूल्यों के प्रश्न की उपेक्षा नहीं करता और न यही कहता है कि रम्यकल्पना का प्रत्येक उदात्तीकरण कलाकृति है। कलाकार में अपनी रम्यकल्पनाओं के वस्तुनिष्ठ रूप को इस प्रकार ढालने की विशिष्ट योग्यता (जिसे फ्रायड 'रहस्यात्मक' कहता है) रहती है कि उसकी परिणति निश्चित आनन्द में होती है और वह आनन्द रम्यकल्पना से स्वतन्त्र तथा भौतिक समानुपात, विन्यास, स्वर, सामंजस्य एवं अन्य समस्त विशिष्ट तथा वस्तुनिष्ठ गुणों के कारण होता है जिन्हें हम किसी कलाकृति में स्वीकार करते हैं। कलाकृति में इस वस्तुनिष्ठ शक्ति का वह एक ही समाधान करता है कि कलाकार का शिल्प किसी तरह वैयक्तिक अहं के अवरोधों को दूर कर उन्हें सामूहिक अहं से एकाकार कर देता है। वह बताता है कि कलाकृति के विशुद्ध रूपात्मक और सौन्दर्यात्मक तत्त्व आनन्दातिरेक या प्रारम्भिक प्रलोभन की सृष्टि करते हैं और वह जब एक बार हमारी संवेदनशीलता को प्रभावित करता है तो गम्भीरतर स्तरों से उत्पन्न होनेवाले गौण एवं श्रेष्ठ प्रकार के आनन्द की मुक्ति का मार्ग खोल देता है। वह कहता है : "मेरा विश्वास है कि सर्जनशील कलाकार हममें जो सौन्दर्यात्मक आनन्द उत्पन्न करता है उसका

एक प्राथमिक वैशिष्ट्य होता है और किसी कलाकृति से वास्तविक आनन्दानुभूति इस कारण होती है कि वह मानसिक तनाव से हमें राहत देती है।"[१६]

यह सच है कि फ्रायड यह नहीं कहता कि रम्यकल्पना का प्रत्येक उदात्तीकरण कलाकृति है; यह भी सच है कि वह कलाकार में रहनेवाली किसी रहस्यात्मक क्षमता की चर्चा करता है जो रम्यकल्पना के वस्तुनिष्ठ रूप को ऐसे ढाल देती है कि उसकी परिणति निश्चित आनन्द में हो जाती है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। वह हमें यह नहीं बताता कि किसी कलाकृति का मूल्यांकन कैसे करना चाहिए तथा विभिन्न कलाकृतियों के सापेक्ष मूल्य का निर्धारण कैसे करना चाहिए। और, कलाकार की जिस रहस्यात्मक क्षमता की बात वह कहता है वह रहस्य ही रह जाती है, क्योंकि फ्रायड इसकी व्याख्या नहीं करता कि वह (क्षमता) किस रूप में काम करती है। कलाकृति की वस्तुनिष्ठ शक्ति की व्याख्या भी बहुत मान्य नहीं है। फ्रायड कलाकृति की वस्तुनिष्ठ शक्ति से अवगत है और उससे हमें जो आनन्द और सन्तुष्टि मिलती है, उससे भी अवगत है। उसका यह भी सिद्धान्त है कि कलाकृति एक प्रकार का उदात्तीकरण है। ऐसी स्थिति में उसे यह व्याख्या करनी चाहिए कि व्यक्तिगत और निजी आवेग अथवा इच्छा का उदात्तीकरण कैसे 'शाश्वत आनन्द' बन सकता है। फ्रायड का कहना है कि इसकी व्याख्या कलाकार की रहस्यात्मक शक्ति में निहित है, किन्तु यह तो व्याख्या हुई नहीं।

(ग)

कहते हैं कि उत्पत्ति की दृष्टि से सभी कलाएँ एक प्रकार की क्रीड़ा हैं। "जो व्यक्ति संगीत की स्वर-रचना करता है और जो संगीत सुनता है, दोनों एक प्रकार की क्रीड़ा में संलग्न हैं। वे अपने भावों से क्रीड़ा कर रहे हैं।"[१७] यहाँ 'क्रीड़ा' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि जो काम किया जा रहा है, वह उपयोगी नहीं है। कलात्मक क्रिया की इस बाह्य अनुपयोगिता पर विभिन्न युगों के विचारशील लेखकों का ध्यान गया है। प्लेटो का भी तर्क था कि अभिनेता को हमारी नैतिकता समुन्नत करनी चाहिए और १९वीं शताब्दी में कुछ लेखकों ने कहा कि "बिल्लियों की क्रीड़ा चूहों को भगाने के लिए उपयोगी है।"[१८] किसी कलाकृति का मूल्य इतना स्पष्ट है कि उसे अस्वीकार

नहीं किया जा सकता और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि उससे दैनिक जीवन की जैविक एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, अर्थात् जैविक दृष्टि से वह निष्प्रयोजन है। इस विरोध के परिहार की समस्या को लेकर अनेक लेखक उद्विग्न रहे हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि हमारे संवेग हमें यों ही नहीं, बल्कि इसलिए मिले हैं कि उनसे कार्य की प्रेरणा मिलती है; उनसे कुछ व्यावहारिक परिणाम निकलते हैं जो उपयोगी हो भी सकते हैं और नहीं भी। जब कोई क्रिया उपयोगी होती है तो उसे 'कार्य' कहते हैं, किन्तु जब वह निरुपयोगी दीखती है तो उसे 'क्रीड़ा' कहते हैं। उदाहरणार्थ, फुटबॉल का मैच क्रीड़ा है, किन्तु फसल काटना कार्य। कोई क्रिया उपयोगी हुए बिना भी बहुत उत्तेजक और प्रेरक हो सकती है और कोई उपयोगी कार्य भी उत्तेजक और प्रेरक नहीं हो सकता। सांटयाना लिखता है, "हम वैसी हर चीज को 'क्रीड़ा' कह सकते हैं जो निरुपयोगी है, जो ऊर्जा के निस्सारण के शारीरिक आवेग से उत्पन्न है और जो जीवन की आवश्यकताओं से प्रेरित नहीं है। इसी प्रकार, जीवन के लिए आवश्यक अथवा उपयोगी सभी क्रियाओं को 'कार्य' कहेंगे।"[१९] जो संगीत की स्वर-रचना करता है, वह कोई ऐसा काम नहीं करता जो जीवन के लिए आवश्यक अथवा उपयोगी हो। वह केवल वैसी ऊर्जा के निस्सारण में संलग्न है जो जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। सिरिल बर्ट के अनुसार, "स्टूडियो का कलाकार और रचना में लीन कवि शिशुशाला के बच्चे से भिन्न नहीं हैं। उनमें से प्रत्येक अपनी कलाकृति की सृष्टि कर रहा है और वास्तविक संसार में समुचित ढंग से काम में नहीं आनेवाले अतिरिक्त संवेग को बाहर निकाल रहा है। कलाकार के उत्कृष्ट नैपुण्य की सहायता से पाठक, प्रेक्षक, भावक, श्रोता अपने लिए प्रायः वही काम कर रहे हैं।"[२०]

तात्पर्य कि कलाकार एक निरुपयोगी व्यक्ति है जो निरुपयोगी काम कर रहा है। कलाकृति की सृष्टि कार्य नहीं, बल्कि क्रीड़ा है अर्थात् निरुपयोगी प्रयास है। कलाकार नहीं जानता कि वह अपनी समस्त ऊर्जा को कैसे काम में लाए। कुछ निरुद्देश्य और निरर्थक क्रियाओं में वह उसका अपव्यय करता है जिसे कला कहते हैं। यदि वह अपनी समस्त ऊर्जा को काम में ला पाता, यदि उसका मन और शरीर पर्यावरण से पूर्णतः अनुकूलित होते तो ऊर्जा का अपव्यय बिलकुल नहीं होता अर्थात् कला नहीं होती। शारीरिक और मानसिक

रूप में बच्चा पर्यावरण का सामना करने के योग्य नहीं होता। स्वभावतः अपनी अतिरिक्त ऊर्जा को उसे निरुद्देश्य गति अर्थात् क्रीड़ा में लगाना पड़ती है। किन्तु सयाना आदमी निरुद्देश्य और जैविक दृष्टि से निरुपयोगी कार्य में अपनी ऊर्जा का व्यय करे, यह चिन्तनीय स्थिति है और मानव-प्रकृति की अपरिपक्वता का प्रमाण है। यह निष्कर्ष अपरिहार्य प्रतीत होता है और अरुचिकर भी। इसलिए इसपर परदा डालने की कोशिश की जाती है। कहा जाता है कि क्रीड़ा के अन्य रूपों की तरह कलात्मक क्रीड़ा से भी हमें लाभ हो सकते हैं। घुमा-फिरा कर वह अतीत से उत्पन्न होती है और भविष्य के लिए सन्दिग्ध इच्छा व्यक्त करती है। लालायित होते हुए भी जिस वस्तु को पाने में हम असमर्थ रहे हैं, उसकी वह क्षतिपूर्ति है। वह अतृप्त संवेगों के निर्गम का मार्ग प्रस्तुत करती है, साथ ही उन्हें काल्पनिक परिस्थितियों में प्रयोग में लाकर उनके शासन और नियमन में सहायता भी करती है।[२१] यह सायास समर्थन बहुत प्रभावी नहीं है। इसका निर्बल स्वर और सतही दृष्टि सर्वथा असंतोषजनक हैं।

सांटयाना ने कलाओं का कहीं अधिक प्रभावशाली, शक्तिशाली और जोरदार समर्थन किया है जो लम्बा होने के बावजूद पूर्णतः उद्धृत करने के योग्य है—"सहज और आनन्ददायक व्यवसायों को इसलिए गर्हित बताना कि वे आत्मपरिरक्षण के लिए निरुपयोगी हैं, जीवन के प्रति विवेकहीन आदर प्रदर्शित करना है जिसमें उसके उपकरणों की ओर से आँखें मूँद ली गयी हैं। ऐसी प्रणाली के लिए विश्व का उपयुक्ततम कार्य सतत गतिशीलता स्थापित करना ही हो सकता है। किसी भी कार्य की अनुमित उपयोगिता पर निरर्थकता का आरोप लगाना बड़ा घातक है, किन्तु जो कार्य स्वोद्देश्य होते हैं वे अपने अस्तित्व के आप समर्थक हैं।

"साथ ही मनुष्य की स्वतन्त्र, कल्पनात्मक क्रियाओं को क्रीड़ा कहने में भी अखण्डनीय औचित्य है, क्योंकि वे सहज हैं और किसी बाहरी आवश्यकता या खतरे के दबाव में नहीं की जातीं। आत्मपरिरक्षण के लिए उनकी उपयोगिता बहुत ही अप्रत्यक्ष और आकस्मिक हो सकती है, पर इसीलिए वे मूल्यहीन हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके प्रतिकूल, हम किसी जाति की सुख और सभ्यता की उपलब्धि को उस ऊर्जा के अनुपात से नाप सकते हैं जिसका उपयोग उसने स्वतन्त्र तथा उदार वृत्तियों के उन्नयन, जीवन के अलंकरण

नहीं किया जा सकता और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि उससे दैनिक जीवन की जैविक एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, अर्थात् जैविक दृष्टि से वह निष्प्रयोजन है। इस विरोध के परिहार की समस्या को लेकर अनेक लेखक उद्विग्न रहे हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि हमारे संवेग हमें यों ही नहीं, बल्कि इसलिए मिले हैं कि उनसे कार्य की प्रेरणा मिलती है; उनसे कुछ व्यावहारिक परिणाम निकलते हैं जो उपयोगी हो भी सकते हैं और नहीं भी। जब कोई क्रिया उपयोगी होती है तो उसे 'कार्य' कहते हैं, किन्तु जब वह निरुपयोगी दीखती है तो उसे 'क्रीड़ा' कहते हैं। उदाहरणार्थ, फुटबॉल का मैच क्रीड़ा है, किन्तु फसल काटना कार्य। कोई क्रिया उपयोगी हुए बिना भी बहुत उत्तेजक और प्रेरक हो सकती है और कोई उपयोगी कार्य भी उत्तेजक और प्रेरक नहीं हो सकता। सांटयाना लिखता है, "हम वैसी हर चीज को 'क्रीड़ा' कह सकते हैं जो निरुपयोगी है, जो ऊर्जा के निस्सारण के शारीरिक आवेग से उत्पन्न है और जो जीवन की आवश्यकताओं से प्रेरित नहीं है। इसी प्रकार, जीवन के लिए आवश्यक अथवा उपयोगी सभी क्रियाओं को 'कार्य' कहेंगे।"[१९] जो संगीत की स्वर-रचना करता है, वह कोई ऐसा काम नहीं करता जो जीवन के लिए आवश्यक अथवा उपयोगी हो। वह केवल वैसी ऊर्जा के निस्सारण में संलग्न है जो जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। सिरिल बर्ट के अनुसार, "स्टूडियो का कलाकार और रचना में लीन कवि शिशुशाला के बच्चे से भिन्न नहीं हैं। उनमें से प्रत्येक अपनी कलाकृति की सृष्टि कर रहा है और वास्तविक संसार में समुचित ढंग से काम में नहीं आनेवाले अतिरिक्त संवेग को बाहर निकाल रहा है। कलाकार के उत्कृष्ट नैपुण्य की सहायता से पाठक, प्रेक्षक, भावक, श्रोता अपने लिए प्रायः वही काम कर रहे हैं।"[२०]

तात्पर्य कि कलाकार एक निरुपयोगी व्यक्ति है जो निरुपयोगी काम कर रहा है। कलाकृति की सृष्टि कार्य नहीं, बल्कि क्रीड़ा है अर्थात् निरुपयोगी प्रयास है। कलाकार नहीं जानता कि वह अपनी समस्त ऊर्जा को कैसे काम में लाए। कुछ निरुद्देश्य और निरर्थक क्रियाओं में वह उसका अपव्यय करता है जिसे कला कहते हैं। यदि वह अपनी समस्त ऊर्जा को काम में ला पाता, यदि उसका मन और शरीर पर्यावरण से पूर्णतः अनुकूलित होते तो ऊर्जा का अपव्यय बिलकुल नहीं होता अर्थात् कला नहीं होती। शारीरिक और मानसिक

रूप में बच्चा पर्यावरण का सामना करने के योग्य नहीं होता। स्वभावतः अपनी अतिरिक्त ऊर्जा को उसे निरुद्देश्य गति अर्थात् क्रीड़ा में लगाना पड़ता है। किन्तु सयाना आदमी निरुद्देश्य और जैविक दृष्टि से निरुपयोगी कार्य में अपनी ऊर्जा का व्यय करे, यह चिन्तनीय स्थिति है और मानव-प्रकृति की अपरिपक्वता का प्रमाण है। यह निष्कर्ष अपरिहार्य प्रतीत होता है और अरुचिकर भी। इसलिए इसपर परदा डालने की कोशिश की जाती है। कहा जाता है कि क्रीड़ा के अन्य रूपों की तरह कलात्मक क्रीड़ा से भी हमें लाभ हो सकते हैं। घुमा-फिरा कर वह अतीत से उत्पन्न होती है और भविष्य के लिए सन्दिग्ध इच्छा व्यक्त करती है। लालायित होते हुए भी जिस वस्तु को पाने में हम असमर्थ रहे हैं, उसकी वह क्षतिपूर्ति है। वह अतृप्त संवेगों के निर्गम का मार्ग प्रस्तुत करती है, साथ ही उन्हें काल्पनिक परिस्थितियों में प्रयोग में लाकर उनके शासन और नियमन में सहायता भी करती है।[२१] यह सायास समर्थन बहुत प्रभावी नहीं है। इसका निर्बल स्वर और सतही दृष्टि सर्वथा असंतोषजनक हैं।

सांटयाना ने कलाओं का कहीं अधिक प्रभावशाली, शक्तिशाली और जोरदार समर्थन किया है जो लम्बा होने के बावजूद पूर्णतः उद्धृत करने के योग्य है—"सहज और आनन्ददायक व्यवसायों को इसलिए गर्हित बताना कि वे आत्मपरिरक्षण के लिए निरुपयोगी हैं, जीवन के प्रति विवेकहीन आदर प्रदर्शित करना है जिसमें उसके उपकरणों की ओर से आँखें मूँद ली गयी हैं। ऐसी प्रणाली के लिए विश्व का उपयुक्ततम कार्य सतत गतिशीलता स्थापित करना ही हो सकता है। किसी भी कार्य की अनुमित उपयोगिता पर निरर्थकता का आरोप लगाना बड़ा घातक है, किन्तु जो कार्य स्वोद्देश्य होते हैं वे अपने अस्तित्व के आप समर्थक हैं।

"साथ ही मनुष्य की स्वतन्त्र, कल्पनात्मक क्रियाओं को क्रीड़ा कहने में भी अखण्डनीय औचित्य है, क्योंकि वे सहज हैं और किसी बाहरी आवश्यकता या खतरे के दबाव में नहीं की जातीं। आत्मपरिरक्षण के लिए उनकी उपयोगिता बहुत ही अप्रत्यक्ष और आकस्मिक हो सकती है, पर इसीलिए वे मूल्यहीन हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके प्रतिकूल, हम किसी जाति की सुख और सभ्यता की उपलब्धि को उस ऊर्जा के अनुपात से नाप सकते हैं जिसका उपयोग उसने स्वतन्त्र तथा उदार वृत्तियों के उन्नयन, जीवन के अलंकरण

और कल्पना के संवर्द्धन में किया है, क्योंकि मनुष्य अपने को तथा अपने सुख को अपनी क्षमताओं के सहज उपयोग में ही प्राप्त कर सकता है। दासता बड़ी ही अपमानजनक स्थिति है और मनुष्य प्रायः किसी स्वामी या संस्था का जितना दास होता है, उतना ही पृथ्वी की कृपणता का अथवा स्वर्ग की असह्यता का भी। वह दास तब होता है जब उसकी सारी ऊर्जा कष्ट और मृत्यु के निवारण में लग जाती है, जब उसकी सारी क्रियाएँ बाहर से आरोपित होती हैं और उसे स्वतन्त्र आनन्दोपभोग के लिए न तो समय रहता है, न बल। यहाँ कार्य और क्रीड़ा दूसरे अर्थ के वाचक बन जाते हैं तथा दासता और स्वाधीनता के समानार्थक हो जाते हैं। यह परिवर्त्तन उस आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का परिणाम है जिससे यह पार्थक्य किया जाता है। हम उसे ही कार्य नहीं कहते जो उपयोगी रूप में किया जाता है, बल्कि उसे भी, जो अनिच्छापूर्वक और आवश्यकता की प्रेरणा से किया जाता है। इसी प्रकार, क्रीड़ा का अर्थ निरुद्देश्य कार्य नहीं है, बल्कि जो सहज भाव से उस कार्य के आनन्द के लिए किया जाए, चाहे उसका कोई उपयोग हो या न हो। इस अर्थ में क्रीड़ा हमारे लिए सर्वाधिक उपयोगी वृत्ति हो सकती है। यदि ऐसा हो तो कार्य समाप्त हो जाएगा और क्रीड़ा सार्वजनीन बन जाएगी। तब सहज वृत्ति के सभी संघर्षों और भूलों को छोड़ देने पर कोई जाति निसर्गतः वह सभी कार्य करेगी जो उसके कल्याण का साधक हो और हम सब बिना किसी बाह्य उत्तेजना या संयम के सुख और समुन्नति से रह सकेंगे।"[२२]

यह बड़ी जोरदार प्रतिरक्षा है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से कार्य को उपयोगी और क्रीड़ा को अनुपयोगी क्रिया के रूप में पृथक् कर दिया गया है। कार्य को प्रायः प्रशंसात्मक शब्द माना जाता है तथा क्रीड़ा को निन्दात्मक। सांटयाना बहुत चतुरता से इन दोनों शब्दों के अर्थ का अन्तर कर देता है। "कार्य और क्रीड़ा के दूसरे अर्थ हो जाते हैं और वे दासता और स्वाधीनता के समानार्थक बन जाते हैं और अब क्रीड़ा प्रशंसात्मक शब्द बन जाता है और कार्य निन्दात्मक।" यह बात सन्तोषप्रद होते हुए भी शब्दजाल है जिसमें चातुर्य तो है, किन्तु वास्तविकता नहीं। और, जब सांटयाना कहता है कि सभी उच्च और कलात्मक क्रियाओं को क्रीड़ा कहने में अखण्डनीय औचित्य है तो हमारा असन्तोष बढ़ जाता है। कलात्मक क्रिया सहज होती है और वह किसी बाहरी आवश्यकता या खतरे के दबाव में नहीं की जाती। अतः सांटयाना के अनुसार

उसे क्रीड़ा कह सकते हैं। दूसरे भी इस शब्द को पर्याप्त समीचीन मानते हैं। डीवी लिखता है, "इसमें कलात्मक आदर्श का वर्णन करने वाली मानसिक क्रीड़ापरता और गम्भीरता के समन्वय की प्रतीति होती है। जब कलाकार अपने साधन और सामग्री में अत्यधिक लीन रहता है तब उसकी शिल्पगत उपलब्धि आश्चर्यजनक हो सकती है, किन्तु कलात्मक भावना नहीं। जब शैली की तुलना में विचार अधिक प्रेरक हों तो सौन्दर्यात्मक भावना लक्षित हो सकती है, किन्तु उपस्थापन की कला इतनी सदोष होती है कि वह उस भावना को पूर्णतः व्यक्त कर ही नहीं सकती।"[२३]

सांटयाना और डीवी दोनों विभिन्न कारणों से क्रीड़ा शब्द को बहुत समीचीन पाते हैं। किन्तु क्रीड़ा शब्द का सामान्यतः निन्दात्मक अर्थ में प्रयोग ही उसे असमीचीन बना देता है। सांटयाना की नयी व्याख्या भी उसे वस्तुतः प्रशंसात्मक शब्द नहीं बना सकती। कला न तो क्रीड़ात्मक है और न निरर्थक। वह बहुत गम्भीर क्रिया है और सम्भवतः सर्वाधिक उपयोगी क्रिया भी। बच्चे से कलाकार की समता केवल सतही चीज है और उन दोनों की तथाकथित समानता केवल सतही ही नहीं, बल्कि निश्चित रूप से भ्रामक भी है। एक बात है, कला की सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ अमर बालकों में उद्भूत होती हैं। कलाकार जो करता है, वह ऐसी वस्तु है जिसका स्वप्न भी बच्चा नहीं देख सकता। क्रीड़ा स्वतःपूर्ण और निरुद्देश्य क्रिया है। न तो उसका कोई लक्ष्य होता है और न उसे पुरस्कार की चाह होती है। क्रीड़ा की सार्थकता उससे उत्पन्न होनेवाले आनन्द और सन्तोष में ही है। कला लक्ष्यहीन नहीं, बल्कि सोद्देश्य है और जैसा सांटयाना कहता है, उसका उद्देश्य केवल जीवन का अलंकरण नहीं है। क्रीड़ा की तरह ही यहाँ अलंकरण शब्द का चुनाव भी बहुत अच्छा नहीं है, उससे अनावश्यक और अलाभकर वस्तुओं की प्रतीति होती है। कला केवल अलंकरण नहीं है। जैसा हम आगे देखेंगे, वह जीवन का सार है।

सांटयाना ने एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है, किन्तु खेद है कि उसपर जितना ध्यान देना चाहिए था उतना वह नहीं दे सका। वह कहता है, "सहज और आनन्ददायक व्यवसायों को इसलिए गर्हित बताना कि वे आत्मपरिरक्षण के लिए निरुपयोगी हैं, जीवन के प्रति विवेकहीन आस्था प्रदर्शित करना है जिसमें उसके उपकरणों की ओर से आँखें मूँद ली गयी

हैं।" उपयोगिता का प्रश्न परिरक्षण एवं जीवन के उपकरणों के लिए भी संगत है और हम जीवन के परिरक्षण की समस्या को उसके उपकरणों से पृथक् नहीं कर सकते। मनुष्य इसलिए पशुओं से भिन्न है कि वह केवल अस्तित्व से सन्तुष्ट नहीं होता; वह जीवन को जीने के योग्य बनाना चाहता है। जीवन के मूल्य पर विचार किये विना वह अस्तित्व की समस्या पर विचार नहीं कर सकता और जीवन के मूल्य का तब तक निर्णय नहीं हो सकता जब तक जीवन के लक्ष्य और उद्देश्यों को न समझ लिया जाए। स्पष्ट है कि इसके लिए दार्शनिक तर्क की आवश्यकता होगी और मूल्य का प्रश्न भी उठ खड़ा होगा।

जीवन के परिरक्षण से कला का बहुत कम सम्बन्ध हो सकता है किन्तु जीवन के उपकरणों के प्रश्न के साथ उसके निकट सम्बन्ध को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। कला जीवन को समृद्ध बनाती है और उसके मूल्य को बढ़ाती है। वह जीवन को परिरक्षण के योग्य बनाती है। जो मनोविज्ञान मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करता है उसे कला की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर विचार करने का अधिकार नहीं है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

◆ ◆ ◆

१. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-अनैलिसिस।
२. द प्रैक्टिस एण्ड थियरी ऑफ़ इण्डिविजुअल साइकॉलोजी।
३. सोशल इण्टरेस्ट।
४. द प्रैक्टिस एण्ड थियरी ऑफ़ इण्डिविजुअल साइकॉलोजी।
५, ६. वही।
७. सोशल इण्टरेस्ट।
८. डिफेन्स ऑफ पोइट्री।
९. कलेक्टेड एसेज़।
१०. मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ ए सोल।
११. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-अनैलिसिस।
१२. वही।

१३. सिविलाइज़ेशन एण्ड इट्स डिस्कण्टेण्ट्स ।

१४. वही ।

१५. द फ्यूचर ऑफ़ ऐन इल्यूज़न ।

१६. कलेक्टेड एसेज़ ।

१७. हाउ द माइण्ड वर्क्स ।

१८. होराइज़न्स ऑफ़ एक्सपीरियेन्स ।

१९. द सेन्स ऑफ ब्यूटी ।

२०. हाउ द माइण्ड वर्क्स ।

२१. वही ।

२२. द सेन्स ऑफ ब्यूटी ।

२३. हाउ वी थिंक ।

✦ ✦ ✦

३

प्रतिभा और उन्माद

यह बात बहुत बार कही गयी है कि प्रतिभा और उन्माद में निकट का सम्बन्ध है। यह विचार कुछ नया नहीं है किन्तु अब इसे तथाकथित परिचित साक्ष्य के साथ न्यूनाधिक वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा है। अरस्तू के सम्बन्ध में भी प्रतिभा और उन्माद के अनेक सम्बन्ध ढूँढ़ निकाले गये थे। प्रायः महत्त्वहीन प्रकृतिवैचित्र्य को भूल से इसका कारण और तत्त्व मान लिया जाता था। "अनेक व्यक्ति कवि और पैगम्बर होते हैं और मार्कस की तरह जब तक वे विक्षिप्त रहते हैं तब तक अच्छे-खासे कवि बने रहते हैं किन्तु जब व्याधिमुक्त हो जाते हैं तो कविता नहीं लिख सकते। कविता, राजनीति और कला के क्षेत्र में विख्यात व्यक्ति प्रायः एजेक्स की तरह विषादी और विक्षिप्त होते हैं अथवा बेलेरोफन की तरह मानव-द्वेषी। आधुनिक युग में भी ऐसे चरित्र सुकरात, एम्पेदेक्लिस, प्लेटो और अन्य दूसरे कवियों के रूप में पाये गये हैं।" ऐसी भूल करनेवाला अरस्तू ही एकमात्र व्यक्ति नहीं है। दमक्रतुस, सेनेका, सिसेरो, प्लूतार्क, पासकल, लामार्तीन, दिदेरो और दूसरों ने भी ऐसी बातें कही हैं। गत शताब्दी में प्रतिभा और उन्माद का यह अनुमित सम्बन्ध विचार-विमर्श के विषयों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। हिर्श के अनुसार इसका एक विशिष्ट कारण था—"वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के प्रयासों से उनके अनुसंधानों का भावात्मक पक्षपात नहीं छिप पाता। यह केवल घटनामात्र नहीं है कि प्रतिभा का तिरस्कार और उन्माद से उसका सम्बन्ध तब दिखायी पड़ता है जब जनतंत्र उच्छृंखल ही नहीं, बल्कि धार्मिक अर्थवत्ता और भावात्मक पवित्रता से रंजित भी हो जाता है। ऐसे समय में असाधारण होने और साधारण के परिचित परिच्छेद से मुक्त होने की केवल एक ही व्याख्या होती है—जो हमारे जैसे नहीं हैं वे सब एक जैसे हैं अर्थात् विक्षिप्त और अपकृष्ट हैं, चाहे वे अपनी प्रकृति को कविताओं, उक्तियों अथवा कलाकृतियों की सहायता से चतुरतापूर्वक कितना भी क्यों न छिपाएँ।"[१]

कारण जो भी हो, तथ्य यह है कि गत शताब्दी में प्रतिभा को प्रायः

हीन बताया गया। किन्तु इस दृष्टिकोण को चुनौती भी काफी मिली। फ्लोराँ ने १८६१ में इसका खंडन किया—"प्रतिभा और विक्षिप्तता ही क्यों, मैं तो पाप और पुण्य को भी अभिन्न मानता हूँ। यद्यपि संसार में पाप आज तक फल-फूल रहा है, फिर भी पुण्य अब भी पुण्य ही कहलाता है और इस संज्ञा से उसे वंचित नहीं किया जा सकता। यही बात प्रतिभा के साथ भी है। प्रतिभा सदा प्रतिभा रहेगी। सुकरात और पासकल के विभ्रमों (हैलुसिनेशन) की हमें अनवरत याद दिलायी जाती है। सुकरात का विश्वास था कि कोई दानव या पिशाच उसके साथ रहता है। पासकल सोचता था कि उसके पैरों के नीचे खाई खुद रही है। किन्तु इससे क्या प्रमाणित होता है? क्या इससे यह प्रमाणित होता है कि विभ्रम प्रतिभा है या उससे प्रतिभा उत्पन्न होती है? विभ्रमों के बिना भी क्या सुकरात विवेकसम्पन्न नहीं होता और पासकल वाग्वैदग्ध्यसम्पन्न? क्या ऐसी बात नहीं है कि प्रतिभा और विक्षिप्तता का सम्बन्ध केवल बाह्य, अनियत तथा आकस्मिक है?"[२]

इस शताब्दी में मनश्चिकित्सकों और मनोविश्लेषकों ने प्रतिभा और विक्षिप्तता में आन्तरिक कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है। क्रेसमर लिखता है—"इससे क्या हम लोम्ब्रोसो का ही निष्कर्ष निकालेंगे कि प्रतिभा उन्माद है? निश्चय ही नहीं! किन्तु हम यह कहेंगे कि शुद्ध जैविक दृष्टि-कोण से प्रतिभाशाली व्यक्ति मानवजाति का अतिवादी रूपान्तर है। ऐसे अतिवादी रूपान्तर जैविकी में बार-बार संरचना की ह्रसित स्थिरता, अधःपतन की वृद्धिगत प्रवृत्ति तथा आनुवंशिकता में, जाति के सामान्य व्यक्तियों की तुलना में, अधिक कठिन प्रचारण को प्रमाणित करते हैं। इसलिए हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होगा कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी मनोवैज्ञानिक संरचना में असाधारण अस्थिरता और अतिसंवेदनशीलता के साथ ही मनो-विक्षिप्ति (साइकोसिस), मनस्ताप (न्युरोसिस) तथा मनोविकृति (साइको-पैथी) के पर्याप्त लक्षण प्रदर्शित करते हैं। मानवजाति के आदर्श रूप में प्रतिभा-शाली का दार्शनिक दृष्टि से मूल्यांकन करना आज भी पूर्णतः सम्भव है। किन्तु यह कहना कि जैविक अर्थ में प्रतिभा स्वस्थता एवं योग्यता का उच्चतम निदर्शन है, मान्य वैज्ञानिक साक्ष्य के सर्वथा विरुद्ध होगा। सामाजिक और जैविक मूल्यों में कहीं भी उतना स्पष्ट अन्तर नहीं है, जितना यहाँ।"[३]

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिभा मनोविकृतिजन्य संघटकों

(कम्पोनेण्ट) से उत्पन्न होती है अथवा उनके बिना भी रह सकती है?[४] मनोविश्लेषकों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनोविकृतिजन्य मनोवृत्ति (साइकोपैथिक डिसपोजिशन) और उच्च कोटि की मेधा (टैलेण्ट) के बीच कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है क्योंकि बुद्धि और मेधा जिस प्रकार मानसिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्तियों में पायी जाती हैं उसी प्रकार मनोविकृति से ग्रस्त व्यक्तियों में भी। क्रेसमर लिखता है कि इस प्रकार मनोविकृतिजन्य मनोवृत्ति पारनासस तक पहुँचने का मार्ग नहीं खोल देती।[५] वह स्वीकार करता है कि किन्हीं मनोविकृतिजन्य संघटकों के बिना, स्वतंत्र रूप से भी, एक स्तर तक प्रायः मानसिक शक्ति का विकास देखा जाता है।[६] किन्तु वह मानता है कि प्रतिभा के विकास की अनुकूल स्थिति उस स्थल पर आती है जब प्राचीन कुलीन परिवारों में अधःपतन के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। वह यह भी कहता है कि सीधी-सादी मेधा को प्रतिभा में परिवर्तित करने के लिए उसमें दानवता का योग होना चाहिए और ऐसा लगता है कि दानवता या भीतरी आवाज मनोविकृतिजन्य तत्त्व के मूल में रहती है, कारण कि दानवता, जो प्रतिभा की सहायिका है, अनिर्वचनीय, आध्यात्मिक दृष्टि से सर्जनात्मक और मौलिक होती है तथा अपरिचित मनोभावों एवं असाधारण विचारों के प्रस्तार को अपने में समेट लेती है।[७] प्रतिभा के उपादानों में से मनोवैकृतिक आनुवंशिकता (साइकोपैथिक इन्हेरिटेन्स), आसुरी चंचलता और मानसिक तनाव को दूर कर देना प्रतिभा को साधारण मेधा के स्तर पर ला देना है। इसलिए उपसंहार करते हुए वह कहता है कि "मनोवैकृतिक तत्त्व जैविक संरचना की खेदजनक, अनावश्यक घटनामात्र नहीं है, बल्कि प्रत्येक प्रकार की प्रतिभा का वह अंतर्निहित और आवश्यक अंग तथा अपरिहार्य उत्प्रेरक है।"[८]

यह निष्कर्ष लोम्ब्रोसो के सूत्र से कि "प्रतिभा उन्माद है", बहुत भिन्न है। किन्तु यह निष्कर्ष भी अमान्य है। मनोविश्लेषक जिस रूप में प्रतिभा के प्रश्न को उठाते हैं उसी में मौलिक दोष है। वे सदा परीक्षण-प्रकोष्ठ (कन्सल्टिंग रूम) का वातावरण अपने साथ लिये चलते हैं। प्रतिभा पर उनकी दृष्टि वैसी ही रहती है जैसी किसी रोगी पर और वे हमेशा यही ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं कि कहाँ क्या गड़बड़ी है। अपनी खोजों के पीछे उनकी सतत तल्लीनता और प्रमुख प्रेरणा यही होती है कि रोग के कारण और उसके उपचार का अनुसंधान किया जा सके। निरंतर गड़बड़ी ढूँढ़ते

रहनें की यह प्रवृत्ति दूसरी समस्याओं के प्रति भी उनके दृष्टिकोण को पक्षपातपूर्ण बना देती है। अनेक प्रकार के तंत्रिका-विकार (नर्वस डिज़ॉर्डर) के वे इतने निकटसम्पर्क में रहते हैं कि उन्हें हर जगह मनस्ताप ही दिखाई देता है। वे सर्वथा संयत और स्वस्थ आकृतियों के पीछे भी इसकी उपस्थिति ढूँढ़ लेते हैं।

एक संक्षिप्त संदर्भ मनोविश्लेषणात्मक सरणि की विशेषता को उद्घाटित कर देगा। "प्राय: असाधारण मनोवेग से असाधारण विचार उत्पन्न होते हैं। जब भावनाओं का प्रवाह उन्मुक्त रहता है और विचार के मार्ग खुले रहते हैं तब असाधारणता जगती है और परिस्थितियों के अनुसार प्रतिभा, विपर्यास (पर्वर्शन) अथवा उन्माद को उत्पन्न करती है।"[९] मनोविश्लेषकों को प्रतिभा, विपर्यास, उन्माद का विचित्र क्रम-विन्यास अजीब-सा नहीं लगता । अधिसामान्य (सुपर-नॉर्मल) और अध:सामान्य (सब-नॉर्मल) में वे कोई अन्तर नहीं करते, संभवत: जानबूझकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वैसा अन्तर निम्नलिखित संदर्भ में पाया जाता है—"क्षणिक अनुभूति में, अथवा किसी व्यक्तित्व की संपूर्णता में, सामान्य की अपेक्षा अधिसामान्य प्रगाढ़ता से समन्वित रहता है किन्तु अध:सामान्य कम समन्वित। आपवादिक व्यक्ति अथवा आपवादिक क्षण में कोई व्यक्ति सामान्य की अपेक्षा अधिक अस्थिर हुआ करता है परन्तु जहाँ अध:सामान्य की अस्थिरता केवल उतार-चढ़ाव है, वहाँ आपवादिक व्यक्ति की अस्थिरता गति की साम्यावस्था है। संतुलन खोने का अर्थ या तो किसी नवीन साम्यावस्था में जाना है, जिसका सम्बन्ध स्थिति के बदले गति से है, या फिर, पेण्डुलम की भाँति गोलाकार हिलते रहना है। सामान्य मनुष्य जब अस्थिर होता है तो पेण्डुलम की भाँति, और फिर भी वह प्रगति करता है, जबकि अध:सामान्य पेण्डुलम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। प्रतिभाशाली मनुष्य, या आपवादिक क्षण में कोई मनुष्य, गतिशील होता है और भूल से इसी को अस्थिरता मान लिया जाता है जो वस्तुत: साम्यावस्था का एक नया रूप है। सामान्य मनुष्य भी कुछ क्षणों में अवसाद का बेहद शिकार बन जाता है और दूसरे क्षणों में उससे ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार प्रतिभाशाली मनुष्य के मनोभावों का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। वह गहराई में उतरता है और ऊँचे भी उठता है; वह पृथ्वी के आँसुओं तथा स्वर्ग की मुस्कानों से परिचित होता है और इनसे ही वह दु:खान्तकों और सुखान्तकों की

सृष्टि करता है। इसके विपरीत, अधःसामान्य में पर्याप्त गति नहीं होती; यदि वह कभी निराशावाद का शिकार होता है तो यह उसकी स्थिर प्रकृति बन जाती है।"

अधिसामान्य और अधःसामान्य का यह अन्तर अत्यन्त महत्त्व का है और इसे हमेशा कायम रखना चाहिए। इस अन्तर की उपेक्षा करना उतना ही अनर्थकारी होगा जितना भले और बुरे के अन्तर की उपेक्षा करना। प्रतिभाशाली मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक संरचना में असामान्य अस्थिरता, अतिसंवेदनशीलता, मनोविक्षिप्ति, मनस्ताप और मनोविकृति के पर्याप्त लक्षण प्रदर्शित कर सकता है किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि प्रतिभाशाली विक्षिप्त होता है और न यही कि वह उन्मत्तों की कोटि में आता है। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा प्रतिभाशाली अधिक संवेदनशील होता है और उसके गठन में अधिक कोमलता रहती है; वह सूक्ष्म और जटिल यंत्र के समान होता है जो न्यूनतम हस्तक्षेप (इंटरफियरेन्स) अथवा कुसमायोजन (मैलऐडजस्टमेण्ट) से बन्द हो जाता है। विक्षिप्त न तो संवेदनशील होता है और न कोमल गठन का; उसके बौद्धिक यंत्र में निश्चित गड़बड़ी रहती है और वह यंत्र भी निश्चय ही सूक्ष्म और जटिल नहीं होता। इस बात से कि प्रतिभाशाली मनस्ताप, मनोविक्षिप्ति और मनोविकृति का भागी हो सकता है, कुछ भी प्रमाणित नहीं होता; और इससे यह तो नहीं ही प्रमाणित होता कि प्रतिभाशाली की प्रतिभा उसके व्यक्तित्व के मनोविकृतिजन्य तत्त्वों के कारण होती है। इस प्रसंग में युंग की व्याख्या कहीं अधिक तर्कसंगत है—"सर्जनात्मक शक्ति मानवीय आवेगों को इस सीमा तक निस्सारित कर सकती है कि वैयक्तिक अहं से सब प्रकार के दुर्गुण—जैसे निष्ठुरता, स्वार्थपरता और अहं तथा सब प्रकार के पाप—विकसित हो जाएँ। ऐसा इसलिए होता है कि जीवन की ज्योति जलती रहे और उसमें शून्यता न आने पाए। विशिष्ट योग्यता का अर्थ है विशिष्ट दिशा में शक्ति का अधिक व्यय, जो परिणामतः जीवन के किसी दूसरे पक्ष से निर्गत होकर आती है।"[१०]

किन्तु यह व्याख्या पूर्ण नहीं है। पहले कहा गया है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है और उसका गठन भी अधिक कोमल होता है। वह जिस पर्यावरण में रहता है वह सामान्य व्यक्ति के लिए सर्वथा संतोषप्रद होता है और चूँकि सामान्य व्यक्ति

के उपकरण कम सूक्ष्म और कम विशेषीकृत होते हैं इसलिए वह कहीं अधिक आसानी से उस पर्यावरण में अपने-आपको समंजित (ऐडजस्ट) कर सकता है। आदर्श और पूर्ण संसार में प्रतिभाशाली व्यक्ति सर्वथा अनुकूल वातावरण पाएगा जो उसके विशिष्ट गुणों की वृद्धि में सहायक हो सके, किन्तु अभी जो स्थिति है उसमें उसे विपरीत और विरोधी संसार में रहना है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ दिशाओं में उसका विकास व्यावृत्त (ट्विस्टेड) और विरूप (अन्शेप्ली) हो जाता है।

हम अधिसामान्य और अधःसामान्य के अन्तर को फिर देखें। यदि एक बार यह अन्तर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाए तो हम स्पष्टतम वस्तुओं की उपेक्षा के भागी भी हो जाएँगे। उदाहरणार्थ, हम उस स्पष्ट तथ्य को लें जिसकी ओर बर्न्स ने संकेत किया है—"सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा आपवादिक व्यक्ति मानसिक जीवन के अचेतन तत्त्वों का अधिक उपयोग करता है। आपवादिक क्षणों में सामान्य व्यक्ति अपने भीतर वैसी शक्तियों और प्रवृत्तियों को उमड़ते पाता है जो दूसरे क्षणों में उसे अधिक प्रभावित नहीं करतीं और प्रतिभाशाली वह व्यक्ति है जिसमें ऐसे असामान्य क्षण बार-बार या अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आते हैं। दूसरी ओर, अधःसामान्य व्यक्ति अचेतन का स्वयं उपयोग करने में असमर्थ रहता है, बल्कि उसी से परिचालित होता है।"[११] चालक द्वारा उड़ाये जानेवाले विमान में और वैसे विमान में जिसे चालक ने छोड़ दिया है, अन्तर होता है। एक स्थिति में विमान नियंत्रण में रहता है, उसका निश्चित लक्ष्य और प्रयोजन होता है, चाहे वह आनन्द-दायक हो अथवा नहीं। दूसरी स्थिति में उसपर का नियंत्रण बिलकुल हट जाता है और वह पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। विक्षिप्त वह है जो अपने ऊपर तथा अपनी शक्ति के ऊपर नियंत्रण खो बैठा है, जो अपने भवन में भी अपना स्वामी नहीं रह गया है; वह ऐसी शक्तियों से शासित हो रहा है जिनपर उसका नियंत्रण अब है ही नहीं। इसलिए वह कोई भी रचनात्मक या सामाजिक मूल्य का कार्य करने में असमर्थ है। व्यावृत्त (ट्विस्टेड) और एकपक्षीय विकास के बावजूद, अपनी विचित्रताओं और विषमताओं के बावजूद, प्रतिभाशाली व्यक्ति रचनात्मक और संगत कार्य के योग्य होता है और उसका कार्य परम सामाजिक महत्त्व और सार्थकता का हुआ करता है।

तो प्रतिभा विक्षिप्तता नहीं है और न मनोविकृतिजन्य तत्त्व प्रतिभा के कारण हैं और न उसके विकास के साधन। प्रतिभा का विकास उस बिन्दु पर हो सकता है जहाँ कुलीन परिवारों के अधःपतन के लक्षण दिखाई देने लगें या ऐसा नहीं भी हो सकता है। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ से कुछ अनुकूल उदाहरणों को चुन लेना और वैसे बहुत सारे उदाहरणों को छोड़ देना, जहाँ ऐसा विकास नहीं हुआ है—यह प्रक्रिया बहुत वैज्ञानिक नहीं है। किसी परिवार के अनेक सदस्यों में प्रायः कोई एक ही प्रतिभाशाली निकलता है, इस स्पष्ट बात की उपेक्षा करना भी उतना ही अवैज्ञानिक है। यह सच है कि कभी-कभी हमें ऐसे गुणी परिवार भी मिलते हैं जिनमें प्रत्येक सदस्य में प्रतिभा या असामान्य मेधा एक-सी रहती है, किन्तु ऐसे उदाहरण विरल हैं। सामान्यतः यही देखा जाता है कि किसी परिवार के अनेक सदस्यों में कोई एक ही प्रतिभाशाली होता है। ऐसे बहुत सारे उदाहरण हैं जिनमें मनोविकृतिजन्य तत्त्व प्रतिभा की उत्पत्ति में बाधक हो जाते हैं, और जब किसी प्राचीन कुलीन परिवार में अधःपतन के चिह्न प्रकट होने लगते हैं तब प्रतिभा का विकास हो ही, यह आवश्यक नहीं है।

प्रतिभा को हीन दिखाने के प्रयास की परिणति कभी-कभी उग्र प्रतिक्रियाओं में हुई है। ऐसी एक प्रतिक्रिया का रूप हिर्श में देखा जाता है जिसकी यह मान्यता है कि प्रतिभाशाली सर्वथा दूसरी जाति का जीव होता है। "प्रतिभाशाली का मानवजाति से गुणकृत भेद है। प्रतिभा की परिभाषा उसकी अपूर्व मानसिक चित्तप्रकृति-सम्बन्धी (टेम्परामेण्टल) प्रक्रियाओं, विशेषताओं, धर्मों और उत्पादनों के रूप में की जा सकती है। प्रतिभाशाली की मानसिक-जैविक जाति ही दूसरी होती है और अपनी मानसिक और चित्तप्रकृति-सम्बन्धी प्रक्रियाओं में वह मनुष्य से उतना ही भिन्न होता है, जितना बन्दर से मनुष्य। जहाँ तक बाहरी रूप का प्रश्न है, वह दूसरे मनुष्यों के समान ही होता है किन्तु उनमें भी तो जलवायु और युग का भेद होता है। इसी प्रकार एक ही देश और एक ही काल के विभिन्न मनुष्य एक-दूसरे से भिन्न हुआ करते हैं। किन्तु ये तो बाह्य रूप और वेश हैं जो मेधावी तथा जड़बुद्धि से, मनस्तापी तथा स्वस्थ से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। हम जब भीतरी भागों में पहुँचते हैं और प्रतिभा को अनावृत देखते हैं तो सूर्य के प्रकाश में हमारे सामने एक सर्वथा दूसरी जाति का जीव आ खड़ा होता

है जो नवीन, मोहक, दिव्य होता है।"

प्रतिभाशालियों के विषय में मनोविश्लेषकों द्वारा लगाये गये मिथ्या अभियोगों पर जब कोई विचार करता है तो हिर्श से पूर्णतः सहमत होने का लोभ हो आता है। प्रतिभा उन्माद नहीं है; वह एक प्रकार की अधः-सामान्यता भी नहीं है; उसका विकास मनोवैकृतिक (साइकोपैथिक) तत्त्वों से नहीं होता; वह आवर्द्धित (मैग्निफाइड) मेधा भी नहीं है। किन्तु यह कहना कि वह सर्वथा दूसरी जाति का जीव है, दूर की कौड़ी लाना होगा। प्रतिभा को समझने का यह कलात्मक तथा बहुत सहानुभूतिपूर्ण प्रयास तो है पर यह विचार बड़ा ही साहसपूर्ण है। इसमें प्रतिभा की प्रकृति और महत्ता की पहचान दीखती है और यदि भूल भी है तो सही दिशा में, परन्तु है यह अस्वीकार्य। ऐसी बात नहीं है कि हिर्श ने अपना सिद्धान्त अनुत्तरदायी ढंग से प्रस्तुत किया है। उसने इसके समर्थन में ऐसे प्रचुर मनोवैज्ञानिक आँकड़े और तर्क दिए हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से निश्चित और उपस्थापित हैं। एक प्रतिनिधि संदर्भ उसकी विचार-सरणि को स्पष्टतः लक्षित कर देगा। "बुद्धि और अंतःप्रज्ञा के मेल की प्रक्रिया और उत्पादन को प्रतिभा कहते हैं। यह ऐसा मेल या मिश्रण है जिसमें माता और पिता की विशेषताओं का ही विलयन नहीं हो जाता, बल्कि जिसमें सामूहिक और निर्वैयक्तिक अचेतन की प्रवृत्ति एवं समृद्धियों को पुनः जीवित और पुनः प्राप्त करने की क्षमता रहती है। बुद्धि जब अकेले काम करती है तो अपने बहुसंख्यक विषयों को बाह्य संसार से ग्रहण करती है और अंतःप्रज्ञा जब अकेले काम करती है तो अपने बहुसंख्यक विषयों को शरीर से ग्रहण करती है किंतु सर्जनात्मक बुद्धि अपने विषयों को पशु-जीवन के मानसिक-जैविक इतिहास से और मनुष्य जाति से ग्रहण करती है। अन्तःप्रज्ञा सर्जनात्मक बुद्धि का संज्ञानात्मक (कॉग्निटिव) पक्ष है। प्रतिभाशाली व्यक्ति बहुविध जातीय रूपों, विचारों अथवा प्रवृत्तियों को देखता है और विस्मित होता है और तब अपनी अन्तःप्रज्ञा अथवा बाह्य संसार की संदृष्टि की सृष्टि अथवा पुनःसृष्टि में उल्लास का अनुभव करता है। यह पुनःसृष्टि जो रूप ग्रहण करती है उसके अनुसार उसकी संज्ञा का निर्धारण होता है अर्थात् उसे हम चित्रकार, कवि, दार्शनिक या राजनीतिज्ञ कहते हैं।"[१२]

हिर्श दायित्वहीन विचारक नहीं है। फिर भी उसका सिद्धान्त स्वीकृत

नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे हमारे अनुभव का विरोध होता है। बन्दर मनुष्य से भिन्न होता है; इसी प्रकार पदातिक से तितली भिन्न होती है। किन्तु प्रतिभाशाली साधारण व्यक्ति से स्पष्टतः भिन्न नहीं होता और न मानसिक परीक्षा होने पर वह किसी ऐसी भिन्नता को प्रदर्शित करता है। इसलिए इस सिद्धान्त को त्यागना ही होगा, भले ही अनिच्छा से वैसा करना पड़े, कारण कि यह सिद्धान्त आकर्षक है। इसे त्यागने का एक दूसरा कारण भी है। इसकी शब्दावली वैज्ञानिक होने पर भी ऐसी लगती है मानो यह प्रतिभा के रोमानी प्रशंसा-गीत की प्रतिध्वनि हो। संभव है, यह जादूगर और कवि के प्रति श्रद्धाभाव की आदिम प्रवृत्ति का प्रत्यावर्त्तन (रेवर्शन) हो। जो भी हो, हिर्श ने एक उपयोगी कार्य किया है और वह है कलाकार या प्रतिभाशाली की अतिसामान्यता पर बल देना।

प्रतिभा कोई नयी घटना नहीं है। इसने प्रत्येक युग और देश में मनुष्यों की उत्सुकता को जगाया है। प्रतिभा और उसकी प्रकृति क्या है और किस रूप में वह मेधा (टैलेण्ट) से भिन्न है, इस विषय में जो अनेक अनुमान किये गये हैं, उनके व्यापक उदाहरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। अनुमानों में तीन, जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, मेरे उद्देश्य को सिद्ध कर देंगे––

१. शोपेनहावर के अनुसार "मेधा ऐसा प्रकर्ष है जिसका अस्तित्व आन्तः-प्रज्ञ (इण्ट्युशनल) ज्ञान की अपेक्षा बहुज्ञता और सूक्ष्मता में रहता है। जो मेधा से संपन्न है वह दूसरों की अपेक्षा अधिक समीचीन ढंग से सोचता है, किन्तु प्रतिभाशाली उसकी तुलना में एक सर्वथा दूसरे संसार का प्रत्यक्ष करता है, कारण कि उसे संसार का अधिक गंभीर ज्ञान रहता है, जो यों तो सबों के सामने प्रस्तुत रहता है किन्तु उसके (प्रतिभाशाली के) मन में वह वस्तुनिष्ठ ढंग से और परिणामतः अधिक शुद्धता और स्पष्टता से प्रस्तुत होता है।"[१३]

२. हैवलक एलिस प्रतिभा को न तो सामान्य सीमाओं के भीतर होने-वाला स्वस्थ रूपान्तर मानता है और न विक्षिप्तता का उपयोगी रूप। उसके अनुसार प्रतिभा तंत्रिका-तंत्र (नर्वस सिस्टम) का विशिष्ट दिशाओं में अत्यंत संवेदनशील और जटिल विकासयुक्त समंजन है जिसके साथ दूसरी दिशाओं में त्रुटियों की भी प्रवृत्ति लगी रहती है। विशिष्ट दिशाओं में उसका विस्तृत संघटन साधारण, औसत मनुष्य की अपेक्षा भी कम संघटित आधार पर खड़ा रहता है। इसीलिए कई श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों ने अनेक बार पेशीय असमन्वय

(मस्क्युलर इन्कोऑर्डिनेशन) और अभद्रता की अभिक्षमता दिखायी है जो प्रायः मूर्खों में पायी जाती है और बौद्धिक क्षेत्र में भी जब वे अपनी विषय-सीमा के बाहर निकलते हैं, तब प्रायः उनमें ऐसे ज्ञान की कमी दीखती है जो साधारण बुद्धिवाले मनुष्य में भी पाया जाता है और तब ऐसा लगता है कि वे इतनी ऊँचाई तक कैसे पहुँच गये! एलिस जोर देकर कहता है कि प्रतिभा विक्षिप्तता नहीं है। प्रतिभा के साथ जो कभी-कभी विक्षिप्तता देखी जाती है वह दीर्घव्यापी ऊँचे तनाव में विशिष्ट बौद्धिक ऊर्जा के व्यय का परिणाम है, प्रतिभा का आधारभूत अनिवार्य तत्त्व नहीं। किन्तु वह फिर कहता है कि भ्रूणीय तंत्रिका की अस्थिरता (जर्मिनल नर्वस इन्स्टेबिलिटी), जो साधारण मन में विक्षिप्तता के किसी-न-किसी रूप को उद्दीप्त करती है, अनेक प्रतिभाशालियों में आरंभ से ही वर्त्तमान रहती है और उनकी दृष्टि के निर्माण अथवा सर्जनशीलता को उद्दीप्त करने में अत्यधिक मूल्यवान् प्रमाणित होती है। जो हो, प्रतिभाशाली की मूल्यवान् सर्जनात्मक कृतियों का श्रेय उसकी विक्षिप्तता को नहीं दिया जा सकता। वह तो उसकी चरम स्वस्थता का परिणाम है।

३. एफ० डब्ल्यू० मेयर्स का कहना है कि दूसरे लोग अपनी सहज शक्तियों का जितना उपयोग कर सकते हैं उससे अधिक व्यापक क्षेत्र में शक्तियों के उपयोग की क्षमता को प्रतिभा कहते हैं। वह ऐसी शक्ति है जो अवसीम मानसिक शक्ति के परिणामों का, अधिसीम विचारधारा के विकास में, उपयोग करती है। प्रतिभा की प्रेरणा वस्तुतः वैसे विचारों का विचारधारा के रूप में अवसीम उद्भावन (अपरश) या आविर्भाव (इमर्जेन्स) है जिन्हें मनुष्य ने सचेतन रूप में उत्पन्न नहीं किया, बल्कि जो उसके अस्तित्व के गंभीरतर क्षेत्रों में आप-से-आप निर्मित हो गये हैं, परन्तु उनका उपयोग वह सचेतन रूप में किया करता है।

तो प्रतिभा विक्षिप्तता नहीं है और न वह महान् मेधा है। साथ ही प्रतिभाशाली किसी दूसरी जाति का जीव भी नहीं है। उसका तंत्रिका-तंत्र विशिष्ट दिशाओं में अतिशय संवेदनशील और जटिल विकासयुक्त समंजन हुआ करता हैं। दूसरे शब्दों में, उसमें कुछ ऐसी योग्यता रहती है जो सामान्य व्यक्ति में नहीं रहती। दूसरी दिशाओं में त्रुटि या दोष की सहकारी प्रवृत्ति उसमें हो सकती है किन्तु यह प्रवृत्ति सदा रहे ही, यह

कोई आवश्यक नहीं। कहने का अर्थ यह कि दोष की प्रवृत्ति प्रतिभा का कारण नहीं है; वह प्रतिभा का आवश्यक परिणाम भी नहीं है। कभी-कभी वह वर्त्तमान रहती है पर अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। युंग ने इसका यों संकेत किया है—सर्जनात्मक शक्ति मानवीय आवेगों को इस सीमा तक निःसृत कर देती है कि वैयक्तिक अहं अनेक दुर्गुणों और दोषों को विकसित कर लेता है। किन्तु वहाँ दूसरे कारण भी हो सकते हैं, कभी-कभी सर्वथा आकस्मिक भी, जैसे पोप (अंग्रेज कवि) की पंगुता। जो शारीरिक, नैतिक या बौद्धिक दोष प्रतिभाशाली में रहते हैं वे किसी प्रकार भी उसमें रहनेवाली विशिष्ट प्रतिभा की व्याख्या नहीं कर पाते। वह भ्रूणीय तंत्रिका की अस्थिरता का शिकार भी हो सकता है जो साधारण मस्तिष्क में किसी प्रकार की विक्षिप्तता को उद्दीप्त कर दे; पर विक्षिप्तता के उस आभास को भूल से वास्तविक वस्तु नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि जैसा हैवलॉक एलिस कहता है, "जो प्रतिभा उन्माद की ओर अग्रसर होती है वह प्रतिभा नहीं रह जाती।"[१४]

प्रतिभाशाली में जो विशिष्ट अवदान रहते हैं वे उसे सदा उपलब्ध नहीं होते। कोई चित्रकार सदा चित्र नहीं खींच सकता; कवि सदा कविता नहीं कर सकता और न वह उस प्रतिभा को सदा एक समान संतोषप्रद परिणामों में लगा सकता है। ऐसे क्षण विरल होते हैं जब वह अपनी सर्वोच्च शक्ति का सर्वोच्च उपयोग कर सकता है। ऐसे विरल क्षणों में ही प्रतिभाशाली रूपान्तरित हो जाता है और मानव-जाति से भिन्न दीखने लगता है। बात ऐसी नहीं कि प्रतिभाशाली वस्तुतः मानव-जाति से भिन्न होता है। वह हमारे ही जैसा व्यक्ति है, किन्तु प्रतिभा की प्रेरणा उसमें रूपान्तरण ला देती है और तब वह भिन्न प्रकार से देखने और अनुभव करने लगता है; ऐसा लगता है मानो वह दूसरे संसार में घूम रहा हो। गहरी चौड़ी खाई उसे हमसे अलग कर देती है। उतने समय के लिए वह हमसे उतना ही भिन्न हो जाता है, जितना तितली से पदातिक (कैटरपिलर)।

◆ ◆ ◆

१. जीनियस एण्ड क्रियेटिव इण्टेलिजेन्स।

२. द ला रेज़ों दु ज़ोनी ए द ला फ़ोलि।

३. द साइकॉलोजी ऑफ़ मेन ऑव जोनियस।

४. ५, ६, ७, ८. वही।

६. द साइकॉलोजी ऑफ़ मेन ऑफ़ जीनियस।

१०. मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ ए सोल।

११. होराइज़न ऑफ़ एक्सपीरियन्स।

१२. जीनियस एण्ड क्रियेटिव इण्टेलिजेन्स।

१३. द वर्ल्ड ऐज़ विल एण्ड आइडिया।

१४. अ स्टडी ऑफ़ ब्रिटिश जीनियस।

◆ ◆ ◆

8

वैयक्तिक प्रतिभा का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन

अर्नेस्ट जोन्स लिखता है कि "मनोविज्ञानियों ने अब तक प्रतिभा के वैयक्तिक विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं कलात्मक सर्जनशीलता पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है और सामान्य ढंग के विवेचन तक ही अपने को सीमित रखा है। सुन्दर वस्तु के विवेचन के सम्बन्ध में उनमें भी वही संकोच और अरुचि पायी जाती है जो जनसाधारण में। यह भय कि अत्यधिक संवीक्षण की दृष्टि से देखने पर सौन्दर्य, और उसके साथ हमारा आनन्द, तिरोहित हो जा सकता है, अंशतः ही मान्य है। बहुत कुछ आनन्द की प्रकृति और विश्लेषक की अभिवृत्ति पर निर्भर करता है। अनुभव यह बताता है कि विशेषतः बौद्धिक रसग्रहण बोध से बढ़ता ही है और उसे बढ़ाना आलोचक के स्वीकृत सामाजिक कार्यों में अन्यतम है। इसके अलावा, चूँकि बौद्धिक रस-ग्रहण सौन्दर्यात्मक रस-ग्रहण के उच्चतर रूपों का प्रमुख भाग है, इसलिए गंभीरतर बोध उसे भी बढ़ाएगा ही।"[१]

आलोचक का सामाजिक कार्य जो भी हो, यह सच है कि मनोविज्ञानी द्वारा किये गये प्रतिभा और कलात्मक सर्जनशीलता के विश्लेषणात्मक अध्ययन अपेक्षाकृत बहुत कम उपलभ्य हैं। कलात्मक व्यापार की प्रकृति के सम्बन्ध में उनके विवेचन प्रायः सामान्य ढंग के ही हैं। यह संभवतः इसलिए है कि सुन्दर वस्तु के विवेचन के सम्बन्ध में उनमें भी वही संकोच और अरुचि पायी जाती है जो जनसाधारण में। इससे भी बढ़कर संभावना यह है कि उनकी अनिच्छा अपनी सीमाओं के अचेतन या अवचेतन अनुभव के कारण हो और इसमें संदेह नहीं कि ये सीमाएँ बहुत बड़ी हैं। प्रतिभा और कलात्मक सर्जनशीलता के ऐसे वैयक्तिक अध्ययन तभी मूल्यवान् हो सकते हैं जब मनोविज्ञानी में मूल्य-भावना, अंतर्निहित कलात्मक प्रक्रियाओं तथा उनकी क्रियाविधि एवं उद्देश्य का संवेदनशील बोध हो, अर्थात् मनोविज्ञानी भी आलोचक हो, परन्तु प्रायः उनमें आलोचना के प्रारंभिक तत्त्व भी नहीं पाये जाते।

सौन्दर्य का इन्द्रजाल
टूट नहीं जाता क्या स्पर्शमात्र से नीरस दर्शन के ?
अंबर में भी कभी एक स्वर्णिम इन्द्रचाप था:
उसके बाने औ' गठन को जानते हैं हम सभी; वह बन गया है
साधारण वस्तुओं की विरस तालिका का अंग।
दर्शन का लक्ष्य है फरिश्तों के पंख कतरना,
मापकों औ' रेखाओं से रहस्यों को जीतना,
भूतप्रेतों के हवाई अखाड़ों और सुरंगों को खाली करना,
इंद्रधनुष के रंगों को बिखेरना।

कीट्स की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ निराधार भय व्यक्त करती हैं। दर्शन इन्द्रधनुष का ताना-बाना ढीला कर दे सकता है। किन्तु यदि हम उसके ताने-बाने और गठन को जानते हैं तो उसे फिर से बुन ले सकते हैं और उसके चमकीले रंगों का आनन्द उठाते रह सकते हैं। उन चमकीले रंगों का सौन्दर्य अत्यधिक संवीक्षण की दृष्टि पड़ने पर तिरोहित नहीं होता और न हमारा आनन्द ही तिरोहित होता है। अर्नेस्ट जोन्स ने ठीक ही कहा है कि बहुत कुछ आनन्द की प्रकृति और विश्लेषक की अभिवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि आनन्द अज्ञान अथवा आत्मवंचना पर आश्रित है तो ज्ञान और बोध के आधिक्य से वह नष्ट हो जाएगा या उसपर उनका विपरीत प्रभाव पड़ेगा, परन्तु विश्लेषक की अभिवृत्ति भी उतनी ही महत्त्व की है। विश्लेषक सभी रहस्यों को नियम से जीतने का प्रयास करता है। तात्पर्य कि वह अनुभवसिद्ध प्रणाली से काम करता है जिसके प्रयोग में विवेक, बुद्धिमत्ता और संवेदनशीलता का अभाव रहता है। इसमें उसका स्वार्थ छिपा होता है। वह प्रायः कुछ पूर्वनिर्णीत सिद्धान्तों को लेकर चलता है और उसका एकमात्र लक्ष्य होता है उन सिद्धान्तों को प्रमाणित करना तथा उन्हें अनालोचनात्मक ढंग से उपयोग में लाना। जिस रूप में वह कलाकृति की छानबीन करता है, वह मृत शरीर पर किये गये डाक्टर के आपरेशन से किसी प्रकार भिन्न नहीं होता। उसकी दृष्टि से कोई महान् कलाकृति उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी निकृष्टतम असफलता, और बस। सफलता और असफलता दोनों उसके लिए एक हैं क्योंकि वह दोनों में अंतर नहीं कर सकता। इससे भी बुरा यह है कि वह अकसर वैसे तत्त्वों को ही ढूँढ़ने का

प्रयास करता है जो उसके सिद्धान्त के मेल में बैठ जाएँ और ऐसा करने में वह उनमें काफी तोड़-मरोड़ करता है और जो अननुकूल एवं अप्रिय तथ्य होते हैं, उन्हें सर्वथा छोड़ देता है।

इसमें संदेह नहीं कि बोध से बौद्धिक रसग्रहण बढ़ता है। हाँ, बहुत कुछ इसपर निर्भर करता है कि कैसा बोध वांछित और प्राप्त है। वैयक्तिक प्रतिभा और कलात्मक सृष्टि के विश्लेषणात्मक अध्ययन के जो प्रयास हुए हैं, उनमें से हम कुछ की परीक्षा करें और देखें कि वे उस प्रतिभा अथवा कलात्मक सृष्टि के गंभीर बोध में कहाँ तक सहायता करते हैं। फ्रायड का 'लियोनार्दो दा विंची' पहला विश्लेषणात्मक अध्ययन है जो हमारे सामने आता है। ऑल्ड्रिच ने उसे संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है जिससे आरंभ करना सुविधाजनक होगा।

"फ्रायड ने दिखाया है कि लियोनार्दो का आचरण और अभिरुचि संभवतः विशिष्ट शैशवकालीन अनुभूतियों से स्थिर हो गयी थी। वह अवैध संतान था और पाँच वर्ष की उम्र तक केवल अपनी माँ के द्वारा पालित-पोषित हुआ था। अपने जन्म के सम्बन्ध में उसकी नैसर्गिक शैशवकालीन अभिरुचि को पिता की अनुपस्थिति ने तीक्ष्ण कर दिया और उसके अंदर सबल अन्वेषी प्रकृति को स्थापित कर दिया। उसकी एकाकिनी माता के अतिरंजित स्नेह ने उसमें असामयिक कामेच्छा उत्पन्न कर दी। उसने इस शैशवकालीन अति को सबल दमन से वश में किया और अपनी माता के लिए उसका दमित स्नेह लड़कों के आदर्शीकृत स्नेह में अभिव्यक्त हुआ। जो ऊर्जा नैसर्गिक स्नेह में निःसृत होती वह उसकी अन्वेषी प्रकृति के चलते उदात्तीकृत हो गयी तथा और भी गंभीर और स्थायी बन गयी।

फ्रायड संकेतित करता है कि लियोनार्दो के पिता के अभाव की आंशिक पूर्ति हो गयी थी और यही कारण है कि 'मिलान' में रहते समय उसकी कला में अधिक स्वाभाविकता दिखायी पड़ती है। जब 'स्फोर्ज़ा' का पतन हुआ और उसे लियोनार्दो को छोड़ना पड़ा तो वह पितृतुल्य उस व्यक्ति को खो बैठा जिसने अचेतन रूप से दमनों से बचने में उसकी सहायता की थी। इसके बाद दमन-सम्बन्धी संघर्ष समाप्त हो गया और अन्वेषी प्रकृति के कारण उदात्तीकृत ऊर्जा की मात्रा बढ़ गयी। विज्ञान ने कला को और भी विस्थापित कर दिया। उसका पुनरारंभ गंभीर शैशवकालीन स्मृतियों के केवल

उदात्तीकरण द्वारा हो पाया। फ्रायड का संकेत है कि 'ला गियोकोन्दा' और 'सेण्ट ऐन' जैसी मुस्कुराती हुई महिलाओं के चित्रों के मूल में, जिन्हें लियो-नार्दो ने बाद के वर्षों में अंकित किया, उसके दमनों की अस्थायी मुक्ति थी जो वैसी महिलाओं से मिलने से संभव हो सकी थी जिन्होंने उसकी मातृ-सम्बन्धी तीव्र, अचेतन, शैशवकालीन स्मृतियों को उकसाया।"[२]

संक्षेप में लियोनार्दो की वैयक्तिक प्रतिभा के सम्बन्ध में फ्रायड के विश्लेषणा-त्मक अध्ययन का यही परिणाम है। यह फ्रायड की कल्पना है और यह कल्पना प्रायः सभी मनोविश्लेषकों की भी है कि कलाकार के आदिम यौन जीवन के विश्लेषण से उसकी प्रतिभा का रहस्योद्घाटन होता है। यह ऐसी कल्पना है जिसका तथ्य से शायद ही सम्बन्ध हो। एलिजाबेथ-युग की प्रेरणाओं, रंगीनियों और सजीवता के ज्ञान से शेक्सपियर को समझना हमारे लिए कहीं अधिक आसान है, बनिस्बत इस ज्ञान के कि वह समयौन था अथवा उसके मन में अपनी माँ के लिए जोरदार कामेच्छा थी। शेक्सपियर के आदिम यौन जीवन के ज्ञान से हम उसके बारे में थोड़ा-बहुत कह सकते हैं, किन्तु आर्नल्ड के प्रशंसा-गान में स्वर मिलाना हमारे लिए संभव न होगा। शेक्सपियर हमसे उतनी दूर प्रतीत नहीं हो सकता किन्तु शेक्सपियर की समयौनता अथवा अपनी माता के प्रति उसकी कामेच्छा का ज्ञान क्या उसकी प्रतिभा की व्याख्या करता है? इसी प्रकार लियोनार्दो के प्रारंभिक यौन-जीवन का ज्ञान यह बता सकता है कि वह अन्ततः हमीं लोगों के जैसा मनुष्य था, उसके यौन-आवेग का उदात्तीकरण अवेक्षण और अन्वेषण की इच्छा में उदात्तीकृत हो गया था। यह ऐसी घटना है जो किसी के साथ घटित हो सकती है। किन्तु यह ज्ञान लियोनार्दो के कलाकार रूप की बिलकुल व्याख्या नहीं करता। फ्रायड दिखलाता है कि लियोनार्दो की 'गियोकोन्दा' 'मोना लिसा' में उसकी माँ के रूपान्तर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह संभव है कि 'मोना लिसा' की मुस्कान पहले-पहल लियोनार्दो ने अपनी माँ के ओठों पर देखी हो पर क्या इससे लियोनार्दो के कलाकार-रूप की कोई व्याख्या होती है?

मनोविश्लेषक 'कलाकार' और 'मनुष्य के रूप में कलाकार' में भेद नहीं करता। संभव है शेक्सपियर समयौन रहा हो अथवा अपनी माँ के प्रति उसके मन में कामेच्छा भी रही हो किन्तु इन बातों का सम्बन्ध मनुष्य के रूप

में शेक्सपियर से है। पर हमारी अभिरुचि शेक्सपियर के चेतन, कलात्मक जीवन में है, उसके अवचेतन, सहज-वृत्ति के जीवन में नहीं। फ्रायड ने लियोनार्दो का मनुष्य के रूप में चित्रण किया है। किसी कलाकार की प्रतिभा को केवल मनुष्य के रूप में उपस्थित करने का प्रयास निश्चित ही अपर्याप्त होगा। यह व्याख्या कि 'ला गियोकोन्दा' के चित्रों में लियोनार्दो अपनी माता की ओर संकेत करता है, अनुमान भले ही हो, व्याख्या बिलकुल ही नहीं है।

कभी-कभी फ्रायड अपनी व्याख्या की अपर्याप्तता से अवगत प्रतीत होता है। वह लिखता है—"हम तो प्रसन्नतापूर्वक बता दें कि किस रूप में कलात्मक क्रिया मानसिक आदिम शक्तियों पर निर्भर करती है, किन्तु हमारी सामग्री यहाँ सर्वथा अपर्याप्त दीखती है। अभी केवल इस बात पर बल देकर हम अपने को संतुष्ट कर लेते हैं, और जिसके सम्बन्ध में शायद ही कोई संदेह हो, कि कलाकार की सृष्टि उसकी कामेच्छा के निर्गम का भी अवसर प्रदान करती है।"[३] यह वैसे बहुत सारे संदर्भों में से एक है, जिसमें, फ्रायड अपनी व्याख्याओं की, और जिस सामग्री पर वे व्याख्याएँ आधारित हैं उसकी, अपर्याप्तता से अवगत प्रतीत होता है। किन्तु अवगत होने पर भी वह साहसपूर्ण सिद्धान्त-निरूपण से विरत नहीं होता। वह आगे कहता है कि लियोनार्दो के सम्बन्ध में वसारी द्वारा प्रदत्त सूचना पर हम ध्यान दे सकते हैं अर्थात् उसके प्रारंभिक कलात्मक प्रयासों में हँसती हुई महिलाओं, सुन्दर बालकों अथवा उसके यौन-विषयों के निरूपण ध्यान आकृष्ट करते थे।[४] यह कल्पना कि कलात्मक क्रिया कामेच्छा पर निर्भर करती है, बहुत स्पष्ट है। एक दूसरे संदर्भ में फ्रायड इस बात को स्वीकार करता हुआ दीखता है कि कला में कामुकता की कारणता केवल आकस्मिक है।

डैलबीज़् लिखता है कि यह संदर्भ स्पष्ट है। यह तथ्य कि कला जैसी श्रेष्ठ प्रवृत्ति में यौन-तत्त्व का मिश्रण हो सकता है, इसलिए पैदा होता है कि उन तत्त्वों से उसे भिन्न मान लिया जाता है। कला में अपना विशिष्ट गुण रहता है और यौनता से उसका पुनर्वलन (रीइन्फोर्समेण्ट), सर्वथा आकस्मिक होता है।[५] बाद में फ्रायड ने इस बात पर स्पष्ट बल दिया कि कला की उत्पत्ति में यौनता का कारणिक योग रहता है। तत्काल हमें उन विरोधों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है जो फ्रायड में प्रायः दीखते हैं।

अभी हमारा ध्यान उसके विश्लेषणात्मक अध्ययन पर है जो लियोनार्दो की प्रतिभा के सम्बन्ध में उसने प्रस्तुत किया है। ये संदर्भ फ्रायड की सतत यौनताविषयक तल्लीनता को प्रदर्शित करते हैं और यह तल्लीनता उसकी दृष्टि को विकृत और सीमित कर देती है। निकोल्सन लिखता है कि हमारे लिए यह समझना कठिन है कि यदि लियोनार्दो का शृंगारिक आवेग 'मोना-लिसा' से जागरित हुआ तो उसके चित्र में कामुकता का कोई भी संकेत क्यों नहीं है? इसके विपरीत, उसमें दृष्टि का प्रशंसनीय परिमार्जन और मस्तिष्क की सूक्ष्मता दीखती है। उसके चेहरे में अनेक अर्थ भरे पड़े हैं जिनके बाद ही जल, पुल, भूमि आदि के सुन्दर दृश्य आते हैं। इस चित्र की बहुविध विशेष-ताओं से आनन्द उठाने के लिए इसके प्रति कामुकता की भावना से आकृष्ट होना आवश्यक नहीं है।[६] वह आगे फिर संकेत करता है कि फ्रायड लियो-नार्दो के रागात्मक जीवन की बिलकुल उपेक्षा कर देता है। वह यह बात नहीं समझता कि प्रेमविषयक मनोवेगों (सेण्टिमेण्ट) के सम्पूर्ण समूह में शृंगारिक आवेग केवल एक प्रवृत्ति है और उसका पुनर्जीवन सम्पूर्ण मनोवेग की जटिल ऊर्जा को सप्राण बना सकता है।

फ्रायड ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि कार्य में लियोनार्दो की मंदता उसके शृंगारिक आवेग और अनुसंधानात्मक आवेग के बीच संघर्ष के कारण थी। संभवतः ऐसा संघर्ष लियोनार्दो में था, किन्तु इसके आगे की धारणा कि शृंगारिक आवेग की विजय कलात्मक कृतियों में परिणत हुई, स्वीकृत नहीं की जा सकती। युंग ने संकेत किया है कि कलाकार में ऊर्जा की सीमित मात्रा होती है और कलात्मक सृष्टि के द्वारा यह ऊर्जा इस सीमा तक निःसृत हो जाती है कि वैयक्तिक अहं में सभी प्रकार के दुर्गुण विकसित हो जाते हैं। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि लियोनार्दो में ऊर्जा की सीमित मात्रा थी और वह एक साथ कला और विज्ञान दोनों की आराधना नहीं कर सकता था। दोनों आवेगों में कोई संघर्ष नहीं था, यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि लियोनार्दो तब भी चित्र बनाया करता था, जब उसमें वैज्ञानिक रुचि का प्राधान्य था। यह सही है कि वह चट्टानों की परतों और पुलों के चित्र बनाता था, किन्तु वह चित्र बनाता था, यह बात यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि उसमें कोई वास्तविक संघर्ष नहीं था। चित्र और विज्ञान दोनों की उसने समान भाव से आराधना नहीं की,

इससे केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि दोनों में एक साथ उत्कर्ष प्राप्त करने के योग्य उसमें प्रचुर ऊर्जा नहीं थी। स्वभावतः इन दोनों अभिरुचियों के बीच उसे चुनाव करना पड़ा किन्तु जब उसकी वैज्ञानिक अभिरुचि बहुत जोरदार थी तब भी वह कलाकार नहीं रहा, ऐसी बात नहीं। स्वयं फ्रायड इसका प्रमाण देता है। वह लिखता है कि "लियोनार्दो जिस अभिनिवेश, मनोयोग और गंभीरता से अध्ययननिरत था वह केवल आवेश (पैशन) से ही उत्पन्न हो सकता है। संज्ञान (कॉग्निशन) पर विजय के बाद के मानसिक कार्य की उच्च भूमि पर वह निरुद्ध भावों को अनियंत्रित छोड़ देता था। संज्ञान की उच्च भूमि पर जब वह सम्पूर्ण के बृहत् खंड का परीक्षण करता था तो करुणा की भावना से अभिभूत हो जाता था और सृष्टि के उस अंश की दिव्यता की, जिसका वह अध्ययन करता था, उल्लास-पूर्ण शब्दों में प्रशंसा करता था।"[८] इस वर्णन में हम स्पष्टतः कलाकार को पहचान लेते हैं। यह उसका वैज्ञानिक रूप नहीं, कलाकार-रूप ही है जो अपने विषय के सम्बन्ध में उल्लासपूर्ण शब्दों में लिखने को प्रेरित करता है।

यह स्पष्ट है कि 'कलाकार' लियोनार्दो और 'मनुष्य' लियोनार्दो के बीच फ्रायड ने कोई भेद नहीं किया है। यह भी स्पष्ट है कि अपने विश्लेषणात्मक अध्ययन से लियोनार्दो की कला के सम्बन्ध में उसने हमें कोई गंभीर ज्ञान भी नहीं दिया है। यह कहना कि लियोनार्दो ने 'मोना लिसा' की मुस्कान को पहले-पहल अपनी माँ के ओठों पर देखा था 'ला गियोकोन्दा' के कलात्मक वैशिष्ट्य को समझने में बहुत सहायक नहीं होता। इस प्रकार अपने विश्लेषण में फ्रायड असफल रहा है।

अब हम दस्तायेव्स्की पर ऐडलर की जो संक्षिप्त टिप्पणी है, उसे देखें। उसने फ्रायड के समान विस्तार से नहीं लिखा है, किन्तु उसने भी एक वैयक्तिक प्रतिभा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो दस्तायेव्स्की तथा उसकी कला-सृष्टियों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को गंभीरतर बना सकता है।

इस विश्लेषणात्मक अध्ययन की चर्चा करने के पहले ऐडलर के सामान्य सिद्धान्तों का थोड़ा विवरण देना आवश्यक है। उसका विश्वास है कि किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके विचार से उत्पन्न होता है। अपने तथा जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विचार होते हैं (चाहिए तो इसे

जीवन-पद्धति या गति-नियम कह लीजिए) जो उसपर अधिकार जमाये तो रहते हैं पर जिन्हें न तो वह समझता है और न जिनका वह कोई विवरण दे सकता है। यह गति-नियम शैशव के संकीर्ण वृत्त में उत्पन्न होता है एवं सहज शक्तियों और बाहरी दुनिया के प्रभावों के भेदरहित, स्वच्छंद उपयोग से उसका विकास होता है।[९] वैयक्तिक जीवन का ऐसा ही नियम है और प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कलाकार हो चाहे साधारण मनुष्य, उसके अधीन रहता है। प्रत्येक कलाकार के मन में अपने सम्बन्ध में यह विचार, यह जीवन-पद्धति या यह गति-नियम रहता है जो उसे सर्वात्मना अपने अधिकार में कर लेता है। इस गति-नियम का अनुसरण करने के अलावा और कोई चारा नहीं रहता। दस्तायेव्स्की भी इस नियम का अपवाद नहीं था किन्तु वैयक्तिक जीवन के इस नियम का चित्र एक दूसरे प्रश्न के बिना पूर्ण नहीं होगा। "वैयक्तिक मनोविज्ञान, विकास की आधारशिला पर, दृढ़ता से खड़ा है और विकास के आलोक में वह सभी व्यक्तियों को पूर्णता के लिए संघर्ष करते हुए देखता है। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की लालसा इस संघर्ष के साथ अभिन्न रूप से बँधी होती है। इसलिए जहाँ तक हमारे ज्ञान का प्रसार संभव है, प्रत्येक मानसिक अभिव्यक्ति, जो गति के रूप में उपस्थित होती है, ऋणात्मक से धनात्मक स्थिति की ओर ले जाती है। अपने जीवन के आरंभ में प्रत्येक व्यक्ति एक गति-नियम अपना लेता है। यह गति-नियम प्रत्येक व्यक्ति के लिए लय और दिशा में भिन्न होता है। पूर्णता के अप्राप्य आदर्श से सदा अपनी तुलना करते हुए व्यक्ति हीन-भावना से आक्रान्त और प्रेरित हुआ करता है।"[१०]

यह गति-नियम व्यक्ति और समूह दोनों के प्रति समान रूप से लागू है। किसी व्यक्ति अथवा समूह की गति ऋणात्मक स्थिति से धनात्मक स्थिति की प्राप्ति में निहित है और इसलिए ऐडलर का उपसंहार-वचन है कि "जीवन का मौलिक नियम पराभव का नियम है। मनुष्य होने का अर्थ है हीन-भावना से अधिकृत होना जो लगातार स्वयं अपनी विजय के लिए प्रेरित करती रहती है।"[११]

ऐडलर के लिए दस्तायेव्स्की सर्वथा समीचीन उदाहरण बन गया है। दस्तायेव्स्की के सम्बन्ध में कहा जाता है कि माता-पिता की छाया में रहते हुए उसमें जो हीन-भावना उत्पन्न हुई उसे दूर करने और श्रेष्ठ-भावना को प्राप्त

करने के लिए उसने प्रयास किये। ऐडलर लिखता है कि आरम्भ में जिस वस्तु ने उसे प्रेरित किया था वह शक्ति और प्रभुत्व के लिए उद्योग था और सम्पूर्ण जीवन को एक सूत्र में बाँधने के प्रयास में भी इस श्रेष्ठता की भावना का प्रचुर आवेग स्पष्ट है। उसके सभी नायकों के कार्यों में हम यह ऊर्द्ध्वरेखा पाते हैं जिससे वे दूसरों के ऊपर उठने की, नेपोलियन के समान दुष्कर कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। ऐसा लगता है कि वे खाई के किनारे पहुँच रहे हैं, उसके ऊपर अपने को छोड़ दे रहे हैं जिसमें गहराई में गिरकर चूर-चूर हो जाने का भी खतरा है। वह स्वयं अपने विषय में कहता है कि "मैं भयंकर महत्त्वाकांक्षी हूँ।"[१२]

व्यक्ति और समूह में इस महत्त्वाकांक्षा का, शक्ति के लिए इस प्रयास का सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान्, पूर्णतासम्बन्धी लक्ष्य होना चाहिए। पूर्णता के लिए सदोष लक्ष्य का अनुसरण करना संकट मोल लेना है। वे जातियाँ, वे परिवार, वे कबीले तथा हजारों व्यक्ति जो विश्वजनीन प्रगति का मार्ग खो बैठे, उन सबका एक ही परिणाम है—विनाश। किसी हानिकर कथानक से, अथवा हानिकर कथानक पर आधारित जीवन-प्रणाली से चिपके रहने का एक ही अंत होता है और वह है मरण जिससे समाज को कोई लाभ नहीं होता। ऐडलर लिखता है—"जिन लोगों ने लोक-कल्याण के लिए कुछ भी नहीं किया है उनका क्या हुआ है? उत्तर है—वे सर्वथा मिट गये हैं। उनका कुछ भी अवशिष्ट नहीं है। पृथ्वी उन्हें निगल गयी है। उनके साथ यह सब वैसे ही घटित हुआ है जैसे लुप्त होनेवाली पशु-जाति के साथ, क्योंकि वे विश्व के तथ्यों के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके। निश्चय ही यहाँ कोई गुप्त नियम है। ऐसा लगता है कि सृष्टि ने आदेश दिया हो—'दूर हटो! तुमने जीवन का अर्थ नहीं समझा है, तुम भविष्य में नहीं टिक सकते'।"[१३]

इस स्थिति से बचने के लिए मनुष्य को सामाजिक भावना से युक्त होना चाहिए, सार्वजनिक कल्याण के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए संघर्ष करना चाहिए। वह लक्ष्य ऐसा है जो सम्पूर्ण मानव-जाति के आदर्श समाज का प्रतिनिधित्व करता है और जो विकास की चरम परिणति है। ऐडलर विकास की भूमि पर दृढ़ भाव से खड़ा है। सबलतर सामाजिक भावना के लिए मानव-जाति के संघर्ष में उसका विश्वास है। मानवता इस समस्या के प्रति सचेत है।

यह सामाजिक भावना ही वह चीज है जो हमें पूर्णता के उच्चतर सोपान तक पहुँचने की प्रेरणा देती है। हममें सामाजिक भावना वर्त्तमान रहती है और अपने उद्देश्य की पूर्ति के प्रयास में उसे सबल विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ता है। उससे बराबर अवरोध उपस्थित होता है, किन्तु अन्तिम सफलता में ऐडलर की पूरी आस्था है। "यदि मनुष्य को पर्याप्त समय दिया गया तो सुदूर भविष्य में सामाजिक भावना की शक्ति सारे विरोधों पर विजय प्राप्त करेगी, यह आशा अटल है। तब वह मनुष्य के लिए उतनी ही स्वाभाविक हो जाएगी जितनी श्वास-प्रश्वास की क्रिया। अभी उसका एक ही विकल्प है उसे समझना, तथा वह अनिवार्य रूप से घटित होगा, इसकी शिक्षा देना।"[१४]

सामान्य महत्त्व की इन बातों को छोड़कर हम फिर दस्तायेव्स्की पर विचार करें। ऐडलर दस्तायेव्स्की की इसलिए प्रशंसा करता है कि उससे उसकी सैद्धान्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। आरम्भ से ही दस्तायेव्स्की शक्ति की लालसा से प्रेरित था। वह भयानक महत्त्वाकांक्षी था। हाँ, उसकी महत्त्वाकांक्षा उस ढंग की नहीं थी जो विनाश की ओर ले जाती है; वह समाज के लिए उपयोगी थी। उसके नायक उसके अपने ढाँचे में ही निर्मित होते हैं। "अपने नायकों के प्रति उसका वही रुख रहा है। सामूहिक सहयोग की तर्कसंगत माँगों की पूर्ति के लिए जो सीमाएँ उसने ढूँढ़ी थीं उनका उन्मत्त भाव से अतिक्रमण करने को वह उन्हें छोड़ देता है। उनकी महत्त्वाकांक्षा, अभिमान, आत्मस्नेह को जगाकर उसने उन्हें जीवन की सुदूर सीमा तक पहुँचा दिया है और तब उनके मार्ग में प्रचंडताओं का संगीत छेड़ दिया है और फिर, मानव-प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओं तक लौटने तथा समन्वय के गीत गाने को बाध्य किया है।"[१५] तात्पर्य कि पड़ोसी के स्नेह के साथ वीरतापूर्ण जीवन को समन्वित करने में दस्तायेव्स्की सफल हुआ है। ऐडलर आगे कहता है कि "इसी सीमारेखा पर उसके नायकों का भाग्य अपनी पूर्णता तक पहुँचता दिखायी देता है। इस सीमा तक वह स्वयं जाने को प्रेरित हुआ था। वहाँ उसे इस बात का पूर्वाभास था कि सखा-स्नेह के रूप में मानव-मूल्य की उसे उत्कृष्टतम प्राप्ति होगी और इसलिए उसने बिलकुल निश्चय-पूर्वक सीमारेखा खींची जैसी आज तक कोई दूसरा नहीं खींच सका था।"[१६]

यह सब सही हो सकता है पर इससे क्या हमें दस्तायेव्स्की की कला समझने में सहायता मिलती है? इसमें ऐडलर का फ्रायड से साम्य है कि

वह भी 'कलाकार' और 'मनुष्य' में कोई अन्तर नहीं करता। वह उस रूप में दस्तायेव्स्की को नहीं देखता जिस रूप में किसी उपन्यासकार को देखना चाहिए। यह सच है कि ऐडलर दस्तायेव्स्की के नायकों की ओर संकेत करता है किन्तु इस बात से कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ता। ऐडलर ने जो रहस्योद्घाटन किया है वह समान रूप से किसी दार्शनिक पर या स्वयं उस पर भी लागू हो सकता है।

ऐडलर दस्तायेव्स्की के जीवन की एक विशिष्ट घटना की ओर संकेत करता है जो उसकी दृष्टि में विशेष सार्थक है और संभवतः जिससे दस्तायेव्स्की की प्रतिभा का रहस्य खुल जाता है। "एक दिन दस्तायेव्स्की अपने पिता की ज़िराअत में घूमते हुए बहुत दूर निकल गया। जब वह खेतों को पार कर रहा था तो उसके कान में किसी के पुकारने की आवाज पड़ी—'भेड़िया आ रहा है'। इसे सुनकर वह सहसा रुक गया। शरण लेने के लिए वह अपने पिता के घर की ओर भागा। तब तक उसने खेत में एक किसान को देखा और रक्षा के लिए उसके पास दौड़ा पहुँचा। डर से काँपते और रोते हुए उसने किसान का हाथ पकड़ लिया और उसे अपने भय का कारण बताया। किसान ने दस्तायेव्स्की के सिर पर अपनी उँगलियों से क्रॉस-चिह्न बनाया, उसे सांत्वना दी और आश्वस्त किया कि वह भेड़िये को उसे कभी निगलने नहीं देगा। यहाँ महत्त्व की बात वह भेड़िया है जो उसे एक मनुष्य के पास खदेड़कर ले जाता है। एकाकी नायक के विचार से जिस कारण वह काँपा वह भेड़िए के अनुभव से तुलना करने के योग्य है। भेड़िये ने उसे एक गरीब और एकाकी व्यक्ति के पास पहुँचा दिया और वहाँ क्रॉस के चिह्न में उसने सम्बन्ध-स्थापन का प्रयास किया। वहाँ उसने सहायता की इच्छा की। 'मेरा सारा जीवन मेरे देशवासियों का है और मेरे सम्पूर्ण विचार मानवता के हैं।' जब वह यह कहता है तो उसका अर्थ उपर्युक्त ही होता है।"[१७]

स्पष्ट है कि यह घटना ऐडलर को क्यों इतनी सार्थक प्रतीत होती है। उसके विश्लेषण के लिए यह एक अतिरिक्त प्रमाण का काम करती है। हम फिर कहेंगे कि यह घटना उस व्यक्ति को समझने में सहायक होती है। किन्तु कलाकार के रूप में दस्तायेव्स्की की प्रतिभा की व्याख्या के लिए यह अपर्याप्त है। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट है कि जिससे ऐडलर प्रभावित हुआ वह दस्तायेव्स्की की ऋषि-दृष्टि थी, उसकी कला नहीं। कला की तो

चर्चा हुई ही नहीं है। यदि कोई आलोचनात्मक टिप्पणी है भी तो वह दस्तायेव्स्की के चरित्र की समन्वित एकता के सम्बन्ध में। उसका प्रत्येक चरित्र सुडौल, दृढ़, प्लास्टिक की मूर्त्ति जैसा प्रतीत होता है जो मानो किसी अविनश्वर साँचे में ढाला गया हो। वह इन मूर्त्तियों की तुलना बाइबिल के, होमर के अथवा यूनानी दुःखान्तकों के चरित्रों से करता है। किन्तु थोड़ी ही देर बाद उसकी कलई खुल जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि इन चरित्रों में उसकी अभिरुचि इसीलिए है कि इनसे उसके सिद्धान्त का समर्थन होता है। उसका प्रत्येक नायक इतमीनान से ऐसे स्थान में विचरण करता है जो एक ओर मूर्त्त वीरता से घिरा है, जहाँ नायक भेड़िया बन जाता है, और दूसरी ओर, मित्रों के प्रति प्रेम की तीक्ष्ण रेखा से। यह दुहरा अक्ष उसके प्रत्येक चरित्र को ऐसा दृढ़ आधार और ऐसा सुनिश्चित दृष्टिकोण प्रदान करता है कि वे हमारी स्मृति और भावना में स्पष्टता से अंकित रहते हैं।[१८] कोई अक्ष दुहरा या इकहरा, इन चरित्रों को हमारी स्मृति और भावना पर तब तक अंकित नहीं कर सकता जब तक उसमें कुछ और न हो और उसकी कोई धारणा एडलर को नहीं है।

इन चरित्रों में ऐडलर की अभिरुचि साहित्यिक आलोचक की नहीं है। वह इन्हें इसलिए पसन्द करता है कि ये उसके सिद्धान्तों के ढाँचे में बड़ी सफाई से बैठ जाते हैं और दस्तायेव्स्की की ऋषि-दृष्टि को स्पष्ट करते हैं जिसकी ऐडलर आपा खोकर प्रशंसा करता है। हम यह कहने का साहस करते हैं कि उसकी (दस्तायेव्स्की की) मनोवैज्ञानिक ऋषि-दृष्टि मनोविज्ञान की तुलना में भी कहीं अधिक गंभीर थी, क्योंकि वह प्रकृति से अच्छी तरह परिचित था।[१९] उसके अनुसार दस्तायेव्स्की आज भी हमारा गुरु माना जा सकता है, क्योंकि किसी मनोविज्ञानी से जितने की आशा या माँग की जा सकती है उससे कहीं अधिक उसने देखा है। दस्तायेव्स्की की ऋषि-दृष्टि के लिए ऐडलर एक अन्तिम प्रमाण उपस्थित करता है—"उसका विचार कि बिना लक्ष्य या अन्तिम आदर्श के कोई न तो चेष्टा करता है और न सोचता है, मनोविज्ञान के विद्यार्थी के आधुनिकतम परिणाम से एकरूप हो जाता है।"[२०] इससे सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। उस महान् कलाकार की आह्लादपूर्ण यह प्रशंसा इस सीधी-सी बात से उत्पन्न होती है कि उसके और ऐडलर के विचारों में साम्य है। अन्तिम विश्लेषण में यह सब आह्लाद-

पूर्ण प्रशंसा-गान का आधार दस्तायेव्स्की नहीं, बल्कि स्वयं ऐडलर है, जिसने ऋषि के रूप में हमारे सामने 'जीवन के मौलिक नियम' को उद्घाटित किया है, जिसने 'मानव-कल्याण के निर्देशक नक्षत्र' की ओर इशारा किया है और जिसने बिना किसी बाधा का सामना किये, मानवीय पूर्णता के लक्ष्य को पाना हमारे लिए संभव बनाया है, और इस तरह उसने प्रमाणित कर दिया है कि वह मानवता का त्राता है।

फ्रायड और ऐडलर दोनों पूर्वनिर्णीत विचार से आरम्भ कर वैयक्तिक प्रतिभा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं जो उस विचार को उदाहृत करता है। फ्रायड की अभिरुचि इसमें है कि कला में यौन-भावना का क्या योगदान है, और ऐडलर की अभिरुचि गति-नियम में है जो जीवन का नियम है, और दोनों अपने-अपने सिद्धान्त को पूर्णतः प्रमाणित करने की फिक्र में हैं। ऐडलर ने इसके लिए कलाकार को चुना है, यह सर्वथा आकस्मिक है। यदि कलाकार के बदले कोई दार्शनिक होता तो वह भी उसके लिए उतना ही अच्छा होता। फ्रायड के लिए भी कला उन विषयों में अन्यतम है जो यौन-भावना-सम्बन्धी उसके सामान्य सिद्धान्त को प्रमाणित करती है। जो भी हो, किसी पूर्वनिर्णीत विचार को लेकर चलना सदा खतरनाक होता है, खासकर आलोचना में। मोण्टगोमरी बेल्जिअन पर ध्यान दीजिए। वह कहता है, कल्पनाशील लेखक के अनिवार्यतः केवल दो कार्य होते हैं—(१) वह आनन्द का दाता है और (२) ऐसा करने के आवरण में उत्तरदायित्वहीन प्रचारक है। कल्पनाशील लेखक जिस वस्तु का प्रचार करता है वह एक प्रकार का जीवन-दर्शन होता है। इसलिए मोण्टगोमरी कहता है कि जब कोई आलोचक किसी कल्पनात्मक साहित्य की वस्तु की परीक्षा करता है तो यह उसका कर्त्तव्य होता है, जिस (कर्त्तव्य) की अब वह उपेक्षा कर दिया करता है, कि वह उसमें अन्तर्निहित प्रचार को खोलकर सबके सामने रख दे और उसका मूल्यांकन करे। जिस कर्त्तव्य की दूसरों ने उपेक्षा कर दी है उसे आलोचक अपनी योग्यता के अनुसार यथासंभव पूरा करता है। वह चार लेखकों—बर्नर्ड शॉ, आन्द्रे ज़ीद, सिगमण्ड फ्रायड और बर्ट्रेण्ड रसल—को चुनता है और जिस दर्शन का वे प्रचार करते हैं, उसको परीक्षा करता है और उनमें से प्रत्येक का अध्ययन वह बिलकुल एक ही रूप में करता है। व्यावहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से देखें तो शॉ मनोविज्ञानी भी हो सकता था

अथवा फ्रायड नाटककार भी। जैसा वह कहता है, कल्पनाशील लेखक में लोगों के विचार-परिवर्त्तन के लिए बड़ा शक्तिशाली प्रभाव रहता है किन्तु उन विचारों के औचित्य पर वह जरा भी ध्यान नहीं देता। आज जब संदिग्ध दर्शनों की भरमार हो गयी है तब आलोचक का कर्त्तव्य होता है कि आनन्द प्राप्त करते समय हम क्या ग्रहण करते हैं, इस पर वह प्रकाश डाले।[२१] इसलिए वह कहता है कि हमें ऐसे आलोचकों की आवश्यकता है जो उस प्रभाव का अनुसरण करें जिसे कल्पनाशील लेखक अपने पाठकों में उत्पन्न करता है, जो उस प्रभाव पर विजय प्राप्त करें और उस दर्शन को पहचानें जिसे वह रचना के द्वारा उदाहृत करना चाहता है तथा अन्ततः उस दर्शन का उद्घाटन एवं मूल्यांकन करें।

उसने रागात्मक प्रभाव को इस सफलता से नजरअंदाज कर दिया है कि इन कल्पनाशील लेखकों की कृतियों में हम उस प्रभाव के साहचर्य-स्थापन का स्वप्न भी नहीं देख पाते। जैसा रिचर्ड मार्च ने कहा है, "मिस्टर वेल्जियन ने अपना कार्य बड़ी विदग्धता और प्रभविष्णुता से सम्पन्न किया है और बिना कहे किसी को रंचमात्र भी सन्देह नहीं होगा कि जिसकी परीक्षा हुई है वह कलाकृति है, कोई राजनीतिक पुस्तिका अथवा शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं। और यह कभी बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है कि स्वयं मिस्टर बेल्जियन को इस बात की चिन्ता हो कि वह कृति किस कोटि की है।"[२२]

ऐसे दृष्टिकोण में जो खतरा है, उस पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है। फ्रायड या ऐडलर की अपेक्षा बोदुएँ ने 'मनोविश्लेषण और सौन्दर्य-शास्त्र' नामक अपनी पुस्तक में इसका कहीं अधिक विस्तृत और समीचीन विवेचन किया है। व्हेरहेरेन के विश्लेषणात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करने से ही संतुष्ट न होकर उसने कम-से-कम उसकी आधारशिला को देखने का प्रयास किया है जिसे वह सौन्दर्य का विज्ञान कहता है। वह जार्ज बरगर, थियोडोर फ़्लोरनोय, फर्डिनंड मोरेल, मायडर और जे० वोदोज़ द्वारा किये गये अनेक व्यक्तियों के विश्लेषणात्मक अध्ययन का उल्लेख करता है और कहता है, "प्रायोगिक होने पर भी ये प्रारंभिक वस्तुएँ प्रचुर सम्भावनाओं से भरी हैं। ये यह प्रदर्शित करती हैं कि हमने कला में मनोविज्ञान और सौन्दर्यविज्ञान की आधारशिला देखी है जो वास्तविक रूप से वैज्ञानिक होगी और तब न कला को मनोविज्ञान का अंग मानने की आवश्यकता होगी, न उसमें निष्फल विद्वत्ता का प्रभाव रहेगा, न जीवन से उसका सम्पर्क छूटेगा और न

सौन्दर्य-भावना से वंचित होने की आवश्यकता होगी। हमें यहाँ समन्वय के प्रयास की अभिव्यक्ति दीखती है, ऐसे प्रयास की, जो कला और विज्ञान में परस्पर समझौता कराना चाहता है। पिछले वर्षों में कला और विज्ञान को परस्पर अत्यधिक अवज्ञा से देखने की प्रवृत्ति रही है। यह अवज्ञा बड़ी तुच्छ है जिसपर गेटे अथवा द विन्ची मुस्कुरा देते।"[२३]

जो बृहत्तर महत्त्वाकांक्षा है, वह स्पष्ट है। कला के मनोविज्ञान या सौन्दर्य-विज्ञान की संभावना पर आगे विचार किया जाएगा। अभी हम इसका विवेचन करें कि बोदुएँ की विश्लेषणात्मक प्रणाली व्हेरहेरेन और उसकी कविताओं के गम्भीरतर बोध में कहाँ तक सहायक होती है। यह स्पष्ट है कि बोदुएँ ने बड़े ध्यान और विस्तार से इन कविताओं का अध्ययन किया है। यह भी स्पष्ट है कि वह इन कविताओं को पसन्द करता है और उनसे प्रभावित हुआ है। निस्संदेह वह फ्रायड और ऐडलर की अपेक्षा अधिक संवेदनशील है। फिर भी उसकी अभिरुचि साहित्यिक आलोचक की अभिरुचि नहीं है। उसकी अभिरुचि मुख्यतः प्रयुक्त संकेतों में, और वे क्या व्यक्त करते हैं, इसमें है, अर्थात् इस बात में कि वे विरोधी आवेगों को कैसे उद्घाटित करते हैं। उसकी अभिरुचि अनुभूतियों में, उनके मूल्य में और कलात्मक अभिव्यक्ति में बिलकुल नहीं है। वह व्हेरहेरेन का विकास बताते हुए केवल यही बता पाता है कि अंतर्मुखता से बहिर्मुखता में उसका कैसे परिवर्तन होता है और कविताओं का उपयोग उसने केवल इसी के उदाहरण के रूप में किया है; कविता के रूप में कविताओं के उत्कर्ष पर विचार किया ही नहीं है। एक उदाहरण बोदुएँ की पद्धति को स्पष्ट कर देगा।

"'प्राथमिक कोमलता' का आरम्भ 'अबूझ भावनाएँ' शीर्षक कविता से होता है जिसमें एक शिशु के प्रेम का वर्णन है :

"दूर, वहाँ, मैं उसका स्वर सुनता हूँ,
उसका स्वर, ओह ! मेरी छोटी,
चपल, गौर, सुकेशिनी मित्र,
जो चली गयी, उस दूसरे लोक की ओर,
सर्वथा कोमल, तब जब न तो उसे,
न मुझे ही यह भान था कि
मृत्यु क्या है।

"प्रसिद्ध कविता 'जल-यात्री' को जो जानते हैं वे सम्भवतः तुरत 'दूर की आवाज' और उस महिला की आवाज में साम्य देख लेंगे जो असंभव के दूसरी ओर से, धार के प्रतिकूल जाने की चेष्टा करनेवाले प्रतीकात्मक नाविक का स्वागत करती है :

"जल का यात्री, हाथ में डाँडा लिये,
प्रतिकूल धार में, देर से,
संघर्ष कर रहा था, दाँतों के बीच एक हरा तिनका दाबे,
पर, हंत ! जो उसे इशारे से बुला रही थी,
तरंगों के उस पार से, वहाँ से,
हमेशा दूर, तरंगों के और उधर,
अँधेरे में, हटती जा रही थी।

"'अबूझ भावनाएँ' में कवि अपने छोटे मित्र से बात करता है जिसकी मृत्यु हो चुकी है :

"जिन लोगों को हम-तुम जानते थे, उनमें से
तुम्हारी दादी बहुधा मुझसे कहती है,
तन्मय हृदय और बुद्धि से, हमारे बचपन की
उन अनबिसरे वर्षों की बातें।
उसकी बातें सुनकर मैं सब कुछ
फिर देखने लगता हूँ।

"इसके बाद उनके बचपन के कुछ चित्र सामने आते हैं और बिम्ब मस्तिष्क में उठ खड़े होते हैं। इसके तुरत बाद वह 'नाविक की आवाजों' की बात कहता है। यह नदी, जो दोनों बच्चों के लिए संसार का अन्त है और नदी का नाविक—इनसे हम 'ले व्हिलाज़ इलुज़्वार' वाली कविता पर पहुँच जाते हैं और इस प्रकार दोनों स्मृतियों में पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि जो आवाज नाविक का अभिनन्दन करती है उसमें बचपन के उस साथी की आवाज का पर्याप्त अंश है, जो नदी पार कर दूसरे लोक में प्रवेश कर चुका है।

"एक दिन मुझे विश्वास दिलाया गया कि
वह तारों के देश में खो गयी है,
घूँघटों के साथ, उँगलियों के बीच गुलाब लिये;
उसका चित्र मेरे मन में स्थिर रह गया,

इतना मनोहर,
कि मेरा हृदय संपूर्णतः उसकी ओर चला गया।

"'सम्पूर्णतः उसकी ओर चला गया', ठीक वैसे ही जैसे नाविक असम्भव की ओर चला गया, और शैशव की स्मृति जीवन-प्रवाह के प्रतिकूल। 'जल-यात्री' की यह 'प्रतिकूल धारा' बड़ी स्पष्टता से उस प्रवृत्ति को व्यक्त करती है जिसे मनोविज्ञानी 'प्रत्यावर्तनशील प्रवृत्ति (रिग्रेसिव टेण्डेन्सी)' कहते हैं और जो अंतर्मुखता (इण्ट्रोवर्शन) की अन्यतम, नियत विशेषता प्रतीत होती है। इस प्रवृत्ति का व्यक्ति जीवन की यथार्थताओं की ओर मुड़ने के बदले शैशव के स्वप्नों की ओर मुड़ता है। इसमें हमें अंतर्मुखता के मार्ग का एक सोपान दिखायी देता है।"

इस लम्बे उद्धरण के औचित्य का समर्थन अनावश्यक है। यह नयी प्रणाली का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है। अब हम इसका कुछ विस्तार से परीक्षण कर सकते हैं। बोदुएँ जिसे सार्थक समझता है उसपर कुछ बिम्बों को, जो उसकी दृष्टि में सार्थक हैं, आरोपित करता है। उनकी सहायता से ही वह व्हेरहेरेन की प्रत्यावर्तनशील प्रवृत्ति तक पहुँचता है जो अंतर्मुखता के नियत वैशिष्ट्यों में अन्यतम हैं। एक बार अंतर्मुखता की बात स्थापित हो जाने पर उस कविता में उसकी अभिरुचि समाप्त हो जाती है। तब वह दूसरी कविताओं की ओर, अथवा यों कहें कि दूसरे बिम्बों की ओर, बढ़ जाता है और उनपर उसी रूप में विचार करता है। एक के बाद दूसरे बिम्ब आते जाते हैं और वह बड़े विश्वसनीय ढंग से यह बताने की कोशिश करता है कि उनकी क्या सार्थकता है। उदाहरणार्थ, स्वर्ण जीवन की सम्पन्नता का प्रतीक है और कालिमा मृत्यु का। ऐसा लगता है कि कविताओं का अस्तित्व केवल बिम्बों के लिए ही है। आलोचना का कार्य अनुभूतियों का मूल्यांकन है और बोदुएँ को इस कार्य की कोई धारणा नहीं है।

बोदुएँ की अभिरुचि इन बिम्बों में इसलिए है कि इनकी सहायता से वह व्हेरहेरेन की आत्मा के अंतःप्रदेशों में विचरण कर सकता है। ये कविताएँ, विशेषकर सफल कविताएँ, बहुत ही सबल और घनीभूत बिम्बों का परिणाम हैं और यह घनीभाव संवेग का, अथवा कवि की आत्मा में विरोध का, चिह्न है। इसलिए बिम्बों का विश्लेषण कविताओं में व्यक्त गंभीर भावनाओं तक हमें पहुँचाने में सहायक होता है। वह यह संकेतित करता हुआ दीखता

है कि घनीभाव निश्चित रूप से शक्तिशाली संवेगों का लक्षण है और जिन कविताओं में सांकेतिक अर्थ अधिक रहता है वे सर्वोत्तम होती हैं। यह संकेत अस्वीकार्य है; कारण कि घनीभाव वास्तविक की अपेक्षा आभासी हो सकता है, साथ ही वह कई कारणों से उत्पन्न हो सकता है। दूसरी बात यह कि किसी कविता में सांकेतिक अर्थ होने पर भी वह अत्यन्त निकृष्ट कविता हो सकती है। यह बड़ी आसानी से प्रदर्शित किया जा सकता है कि बिम्बों के अनुसरण और उनसे सार्थकता निकालने की यह प्रणाली आलोचनात्मक प्रमादों का कारण बन सकती है। इस प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम यह प्रवृत्ति होगी कि उन्हीं कविताओं को मूल्यवान् समझा जाए जिनमें अधिक-से-अधिक सार्थक बिम्ब हों। यह प्रवृत्ति स्वयं बोदुएँ में वर्त्तमान है—"अब तक जो कृतियाँ दूसरी पंक्ति में रखी गयी हैं, यदि विश्लेषण के क्रम में वे सार्थक प्रतीत होती हों तो उनके सम्बन्ध में हमें अपने निर्णयों पर पुनर्विचार करना होगा। व्हेरहेरेन के नाटकों के साथ यही बात है। इसी प्रकार अनेक कविताओं पर, जो विश्लेषण को उदाहृत करने में मूल्यवान् समझी गयी हैं, पुनर्विचार आवश्यक होगा और तब वे उस संग्रह में स्थान की अधिकारिणी होंगी जहाँ अब तक उन्हें स्थान नहीं मिला है।"[२४]

स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति अनालोचनात्मक है। बोदुएँ का कहना है कि व्हेरहेरेन के नाटकों की जो रसानुभूति नहीं हो पाती उसका कारण वह पूर्वग्रह है जो प्रगीतात्मक नाटकों के विरुद्ध सामान्यतः पाया जाता है। उसके तर्क की सरणि यह है कि चूँकि इन नाटकों के सांकेतिक अर्थ हैं, इसलिए इन्हें अच्छा होना ही चाहिए। वह यह तो बहुत जोर देकर कहता है कि ये नाटक नाटकीय तत्त्वों से सम्पन्न हैं, किन्तु उसके तर्क ग्राह्य प्रतीत नहीं होते। वह कहता है कि व्हेरहेरेन के प्रगीत अनिवार्यतः नाटकीय तथा गतिसम्पन्न हैं और इसलिए उसके नाटक भी नाटकीयता से भरे होंगे। यदि कविताओं में उतनी नाटकीयता है तो नाटकों में वह कैसे नहीं होगी? यह बच्चों के तर्क-सा लगता है। ब्राउनिंग के प्रगीत अनिवार्यतः नाटकीय हैं, किन्तु उसके नाटक बहुत ही निराशाजनक और असफल हैं। जो बात ब्राउनिंग के सम्बन्ध में सही है वह व्हेरहेरेन के सम्बन्ध में भी सही हो सकती है। जो भी हो, यह तर्क अपने-आपमें इस योग्य नहीं है कि इन नाटकों के उत्कर्ष को प्रमाणित कर सके। और, हमें कोई दूसरा आलोचनात्मक तर्क नहीं प्राप्त

होता। इन नाटकों में बोदुएँ जिस चीज से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है वह है इनकी विषयवस्तु। इन नाटकों में व्हेरहेरेन ने उन दैत्यों में जीवन का संचार किया है जो आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारे अचेतन की गहराई में प्रसुप्त पड़े हैं। इसीलिए बोदुएँ इन नाटकों की इतनी प्रशंसा करता है। "इन दानवों से व्हेरहेरेन की मुलाकात हुई है; उसने इनका जैसा विश्वसनीय वर्णन किया है उसे देखकर आश्चर्य होता है कि कवि की ऋषि-दृष्टि मनोविज्ञानियों के आधुनिक अनुसन्धानों को किस हद तक सम्पुष्ट करती है।"[२५]

कोई दूसरा प्रमाण आवश्यक नहीं है। यह ठीक है कि बोदुएँ के उपकरण अधिक विस्तृत और अधिक संवेदनशील हैं किन्तु उसका दृष्टिकोण मूलत: वही है जो फ्रायड अथवा ऐडलर का और जिस प्रणाली पर उसे इतना गौरव है वह आलोचनात्मक दृष्टि से बहुत संतोषप्रद नहीं है। वैयक्तिक प्रतिभा के ये विश्लेषणात्मक अध्ययन कभी-कभी बहुत ही रोचक तथ्यों को उद्घाटित करते हैं किन्तु ये तथ्य प्राय: असंगत होते हैं और कलात्मक रचनाओं का गंभीर बोध हमें नहीं दे पाते। निश्चय ही यह नवीन बोध न तो उतना गंभीर है और न उतना मूल्यवान् जितने की उससे आशा की जाती है।

◆ ◆ ◆

१. एसेज् इन अप्लाइड साइको-अनैलिसिस।
२. द प्रिमिटिव माइण्ड एण्ड मॉडर्न सिविलिज़ेशन।
३. लियोनार्दो दा विन्ची।
४. वही
५. साइको-ऐनलिटिकल मेथड एण्ड द डॉक्ट्रिन ऑफ फ्रायड।
६. आर्ट एण्ड सेक्स।
७. आर्ट।
८. लियोनार्दो दा विन्ची।
९. सोशल इण्टरेस्ट।
१०, ११. वही।
१२. द थियरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ इन्डिविजुअल साइकॉलोजी।
१३. सोशल इण्टरेस्ट।

१४. वही।

१५. इण्डिविजुअल साइकॉलोजी।

१६, १७, १८, १९, २०, २१, २२. वही।

२३. साइको-अनैलिसिस एण्ड ईस्थेटिक्स।

२४, २५. वही।

* * *

९

मनोविश्लेषण और आलोचना का कार्य

जैसा हमने देखा है, बोदुएँ की महत्त्वपूर्ण घोषणा है कि मनोविश्लेषकों द्वारा प्रस्तुत कलाशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र की आधारशिला वस्तुतः वैज्ञानिक होगी; उसमें न तो निष्फल शास्त्रीयता का आडंबर होगा, न जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होगा और न सौन्दर्य-भावना का अभाव होगा।[१] इससे ऐसा लगता है कि हमें एक नये प्रकार की वैज्ञानिक आलोचना प्राप्त होने जा रही है जो आलोचना की प्राचीन मान्यता का उसी प्रकार स्थान ग्रहण करेगी जिस प्रकार नवीन विज्ञान ने प्राचीन अन्धविश्वासों का स्थान ग्रहण कर लिया है। किन्तु बाद में चलकर बोदुएँ अधिक सावधान हो जाता है। नवीन विज्ञान प्राचीन विज्ञान का स्थान ग्रहण नहीं करेगा, बल्कि वह सर्वथा नवीन विभाग बन जाएगा जिसकी नवीन प्रणाली होगी और नवीन तथा सर्वथा सीमित कार्यक्षेत्र होगा। वह लिखता है कि हमें मूल्य की धारणा अथवा 'आध्यात्मिक निर्णय' और 'अस्तित्ववादी निर्णय' में स्पष्ट अन्तर करना चाहिए। मूल्य का निर्धारण आलोचक का विशेषाधिकार है। मनोविज्ञान को तथ्य के निर्णय एवं कला-संघटन की जैविक व्याख्या तक ही सीमित रहना चाहिए।[२] तात्पर्य कि दोनों विज्ञानों की विषयवस्तु में जो सर्वथा स्पष्ट अन्तर है उससे बोदुएँ अवगत है। जैसा रीड ने स्वीकार किया है, मनोविज्ञानी साहित्यिक मूल्यों के प्रति उदासीन होता है पर आलोचक का मुख्य व्यापार मूल्य का निर्धारण करना है।

इस मौलिक भेद के होते हुए भी बोदुएँ का विश्वास है कि यद्यपि मनोविज्ञान आलोचना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, फिर भी साहित्य के आलोचक की अत्यधिक सहायता कर सकता है। वह बहुत विश्वासपूर्वक कहता है कि मनोविज्ञान आलोचना को नया जीवन दे सकता है, और अवसर आने पर आलोचकों को अधिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि से सम्पन्न भी बना सकता है।[३] मनोविज्ञान दो प्रकार से आलोचना में सहायक हो सकता है : एक तो यह कि वह कविता में प्रतीक के उपयोग को स्पष्ट कर सकता है। बोदुएँ लिखता

है—"सौन्दर्यात्मक रसबोध सम्भवतः आत्मनिष्ठ ही रहेगा। वह शारीरिक पीड़ा की अपेक्षा कम आत्मनिष्ठ नहीं होता। जब शरीरक्रिया-विज्ञान हमें निश्चित रूप से यह बताता है कि ऐसी पीड़ा ऐसे व्यतिक्रम से मिलती-जुलती है तो हमें शारीरिक कष्ट का वस्तुनिष्ठ आधार प्राप्त होता है और तब चिकित्सक कह सकता है कि आपको अमुक कारण से कष्ट है। इसी रूप में हम मनोविज्ञान से आलोचना की सहायता की आशा कर सकते हैं। यदि हम यह समझ लें कि हमें द्रवित करने वाली रचना की मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति के कुछ परिवर्तनीय लक्षण कतिपय सौन्दर्यात्मक भावों से मेल खाते हैं तो हम यह कह सकेंगे कि यह रचना किन कारणों से हमें द्रवित करती है।"[४] यदि मनोविज्ञान वस्तुतः यह कर पाता तो साहित्यिक आलोचना लाभान्वित होती। व्हेरहेरेन की कविताओं के विस्तृत विश्लेषण के बाद बोदुएँ ने दिखाया है कि उसकी बहुत-सारी कविताएँ, जो सबों के द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट मानी जाती हैं, बिलकुल वे ही कविताएँ हैं जिनमें प्रतीकात्मक अर्थ भरे पड़े हैं[५], साथ ही जो बिम्बों के बहुत सबल और बहुत निश्चित घनीभाव का परिणाम हैं।[६] इसलिए उपसंहार करते हुए वह कहता है कि ऐसा घनीभाव महान् कृतियों की उत्पत्ति के अनुकूल होगा।[७]

यह तर्क बहुत ही लचर है। कविताओं में हम बिम्बों का घनीभाव पा सकते हैं, किन्तु एक इसी बात से कुछ सिद्ध नहीं होता। कई स्थानों पर घनीभाव वास्तविक से अधिक आभासी (एपेरेण्ट) होता है, अथवा वह शक्तिशाली आवेगों का परिणाम नहीं भी हो सकता है, बल्कि संभव है कि उसके सर्वथा विपरीत हो। उदाहरणार्थ, डॉन अथवा शेक्सपियर की क्लीवलैण्ड अथवा काउली से तुलना कीजिए। मनोविज्ञानी डॉन की किसी कविता में, अथवा क्लीवलैण्ड के सर्वथा असफल प्रयास में, एक ही घनीभाव पाएगा और प्रयुक्त बिम्बों के पीछे वह सब प्रकार के गंभीर अर्थ भी ढूँढ़ निकालेगा, किन्तु वह नहीं जानता कि मृत कविता की कोई सार्थकता नहीं होती। उसकी दृष्टि मात्रात्मक होगी अर्थात् जिन कविताओं में सर्वाधिक बिम्ब होंगे वे सर्वोत्तम होंगी। इस मात्रात्मक आकलन का बोदुएँ स्वयं दोषी है। वह व्हेरहेरेन की हीन कविताओं के लिए भी पुनर्विचार का आग्रह करता है, क्योंकि वे उसके विश्लेषण के विशदीकरण में मूल्यवान् सिद्ध होती हैं। व्हेरहेरेन के नाटकों के सम्बन्ध में उसकी अतिरंजित सम्मति है, क्योंकि उनमें प्रतीकात्मक अर्थों

का बाहुल्य है। बोदुएँ के तर्क भी बड़े असंगत हैं। सिर्फ इसलिए कि बहुत सारी कविताएँ बिम्बों के अत्यन्त सबल और निश्चित घनीभाव की उपज हैं, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ऐसे घनीभाव अच्छी कविता के कारण होते हैं अथवा अच्छी कविता की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। ऐसे घनीभावों और अच्छी कविता में कार्यकारण-भाव नहीं भी हो सकता है। घनीभाव और अच्छी कविता, दोनों किसी दूसरे कारण से उत्पन्न हो सकते हैं। स्पष्ट ही घनीभाव क्रिया है। न तो वह बीज है और न क्षेत्र, जो अच्छी कविताओं के विकास के अनुकूल हो। बोदुएँ धुँधले रूप से ही सही, इस सचाई से परिचित प्रतीत होता है क्योंकि वह कहता है कि घनीभाव कवि की आत्मा के संघर्ष अथवा संवेग का चिह्न है। ध्यान रखना चाहिए कि वह केवल चिह्न है, कवि के संवेग अथवा आत्मा के संघर्ष का कारण नहीं। इसलिए महत्त्व की वस्तु संवेग अथवा संघर्ष है, साथ ही कवि के द्वारा उस संवेग अथवा संघर्ष का प्रयोग तथा कलात्मक उपस्थापन। मनोविज्ञानी को इससे मतलब नहीं कि कवि ने अपने विषय का किस प्रकार उपयोग किया है अथवा उसपर किस प्रकार कलात्मक रूप को आरोपित किया है। वह प्रयुक्त बिम्बों को गिनेगा और उनके द्वारा यह ढूँढ़ने का प्रयास करेगा कि कवि किन व्याधियों से ग्रस्त है। स्पष्ट है कि मनोविज्ञानी बड़ा ही अविश्वसनीय मार्गदर्शक है। वह स्वयं भटक सकता है और आलोचक को भी भटका सकता है। मनोविज्ञानी की सहायता के बिना भी आलोचक बिम्बों की सार्थकता स्वयं समझ सकता है और कवि के आन्तरिक जीवन के तत्त्वों से उनका सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है। साथ ही आलोचक वह कर सकता है जो मनोविज्ञानी नहीं कर सकता। वह उन बिम्बों का और उनके द्वारा अभिव्यक्त संवेगों का मूल्यांकन भी कर सकता है। बोदुएँ का जो दावा है उसे वह कार्य में परिणत नहीं कर सकता। वह यह नहीं कह सकता कि कोई रचना हमें क्यों द्रवित करती है। वह कला-सम्बन्धी अपने मनोविज्ञान की सीमा से परिचित है क्योंकि वह कहता है कि "हम मनोविज्ञानी अभी इस स्थिति में नहीं हैं कि इसका निश्चित कारण दे सकें"।[८] किन्तु वह आगे कहता है कि हम भलीभाँति देख पाते हैं कि आलोचना की ऐसी प्रणाली कितनी मूल्यवान् होगी।[९] आलोचक इस आशावादी विश्वास से सहमत नहीं हो सकता।

हम सुनते हैं कि मनोविज्ञानी किसी कलाकृति के निर्णय की दूसरी प्रणाली

हमें दे सकता है। हम इस दूसरी प्रणाली की भी परीक्षा करें और देखें कि किस हद तक वह उपयोगी है। बोदुएँ लिखता है—"कविता में प्रतीक का क्या स्थान है? इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि प्रतीक का प्रयोग स्वीकार्य है। हमें समझ लेना चाहिए कि वह अनिवार्य है। प्रतीक को (अथवा उसके सरल रूप उपमा या रूपक को) अभिव्यंजना की कृत्रिम या चक्करदार प्रणाली मानने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं हो सकती। प्रतीक अभिव्यंजना की सीधी प्रणाली है। जब भी कल्पना सक्रिय होती है और जब भी हम स्वप्न देखते हैं तो अभिव्यंजना के माध्यम के रूप में प्रतीक की सहज प्रणाली का प्रयोग होने लगता है। वस्तुतः कल्पना केवल अपने-आप तक ही सीमित नहीं रहती। वह भौतिक नियंत्रण से अलग होकर संवेदनशीलता की सहायता में जुट जाती है। इस प्रकार प्रतीक संवेदनशीलता की भाषा बन खड़ा होता है।"[१०]

दूसरे संदर्भ के समान यह भी असंतोषप्रद है। हम सभी जानते हैं कि प्रतीक कविता की अभिव्यंजना की कृत्रिम या चक्करदार प्रणाली नहीं है। जब नये ज्ञान का दावा करनेवाला हमें वही बात कहता है जो हम पहले से जानते होते हैं तो उसकी केवल सम्पुष्टि होती है। यह सूचना न तो नयी है और न विस्मयजनक। तो, प्रतीक कविता की अभिव्यंजना की सीधी प्रणाली है। हमारे विचार और भावनाएँ अनायास प्रतीकों में परिवर्त्तित हो जाती हैं। किन्तु जिसे मनोविज्ञानी सदा भूल जाता है उसे हमें नहीं भूलना चाहिए कि कवि ही प्रतीकों का प्रयोग करता है और एक निश्चित उद्देश्य के लिए उनका प्रयोग करता है। मनोविज्ञानी इस बहुत महत्त्वपूर्ण सत्य की केवल उपेक्षा ही नहीं करता, बल्कि ऐसा लगता है कि उसका विचार विरोधी भी हो। वह कहता है—"वस्तुतः कवि रूपक का प्रयोग नहीं करता, रूपक ही उसका प्रयोग करता है"।[११] मानसिक नियतत्ववाद की धारणा के विरुद्ध वितंडा में पड़ने की हमें जरूरत नहीं है। इतना कहना और दृढ़ता से कहना पर्याप्त है कि निश्चित रूप से कवि ही रूपकों का प्रयोग करता है, वह उनसे प्रयुक्त नहीं होता। कवि अपने विषय पर सचेत नियंत्रण रखता है, जिनमें प्रयुक्त रूपक भी सम्मिलित हैं और उसपर वह कलात्मक आवरण डाल देता है। वह अपने विषय का स्वामी है, उसका सचेत या अचेत दास नहीं।

हम इस बात से सहमत हैं कि प्रतीक काव्यगत अभिव्यंजना की सीधी प्रणाली है। इस स्वयंसिद्ध तथ्य को मनोवैज्ञानिक समर्थन की आवश्यकता

नहीं है। शेक्सपियर के किसी प्रसिद्ध संदर्भ को ले लीजिए और बिना किसी मनोवैज्ञानिक व्याख्या के यह तुरत स्पष्ट हो जाएगा कि प्रतीक कितना ठीक है।

उसे किसी दिन मरना ही था :
समय कभी आता ही इसका।
आज, आज के बाद, आज फिर-फिर से आकर
धीरे-धीरे चलता जाता है दिन-प्रतिदिन
जीवन-पथ पर, जबतक अन्त नहीं आ जाता;
और हमारे सारे आज बदल कर कल में
दिखलाते हैं मार्ग मृत्यु का धूलि-भरा मूढ़ों को अविरत।
बुझ जा, बुझ जा, क्षणभंगुर लौ !
जीवन केवल चलती-फिरती छाया भर है,
एक दीन अभिनेता, जो दो दिन दुनिया के
रंगमंच पर रोब दिखाकर रोष जता कर
है छिप जाता, कोई पता नहीं फिर पाता।
यह किस्सा है किसी मूढ़ का गढ़ा
कि जिसमें गर्जन-तर्जन बड़ा
किंतु कुछ सार नहीं है।

—मैकबेथ

स्पष्ट है कि यहाँ बिम्बों का घनीभाव है और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि बिम्बों के पीछे भावना का बहुत शक्तिशाली दबाव है। इस संदर्भ का विस्तृत विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु कुछ तथ्यों की ओर इंगित किया जा सकता है। बहुत सारे बिम्ब, एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध हैं; किसी दिन, समय, कल, दिन, प्रतिदिन, अंत, चलती-फिरती, लौ, छाया, गर्जन-तर्जन। ये विभिन्न प्रकार के बिम्ब एक-दूसरे से पृथक् और असम्बद्ध नहीं रहते, ये एक-दूसरे से मिल जाते हैं या यों कहिए कि एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। प्रत्येक बिम्ब दूसरे बिम्बों से आपरिवर्तित (मॉडिफ़ाइड) होता है और बदले में दूसरे बिम्बों को आपरिवर्तित करता है। प्रत्येक बिम्ब दूसरे बिम्ब की प्रतीति कराता है —एक बिम्ब की दूसरे बिम्ब में स्वाभाविक परिणति हो जाती है और इन बिम्बों का सम्बन्धसूत्र बिलकुल स्पष्ट है। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि

ये बिम्ब सार्थक हैं। सीधे-सादे ढंग से कहें तो कह सकते हैं कि जीवन संक्षिप्त, असार, दिखावटी और निरर्थक है। यह सीधा-सादा कथन विरोध के द्वारा शेक्सपियर के उद्धरण की सम्पन्नता और भावात्मक जटिलता उभारकर रख देता है। बात यह नहीं है कि शेक्सपियर जिस बात को सरल और सीधे ढंग से कह सकता था उसे घुमा-फिराकर और जटिल बनाकर कह रहा है। प्रयुक्त उद्धरण में जिस भावात्मक वस्तु की अभिव्यंजना हुई है उसकी दूसरी प्रकार से अभिव्यंजना हो ही नहीं सकती थी। अभिव्यंजना की जो प्रणाली अभी यहाँ प्रयुक्त है, वह सीधी और ठोस है, चक्करदार और अमूर्त्त नहीं। और, यह प्रणाली कवि को नैसर्गिक रूप में उपलब्ध है। लय और बिम्ब सूचित करते हैं कि भावों का गंभीर आलोड़न हुआ है; इस उद्धरण में ही कोलाहल और प्रचंडता की प्रचुरता है। सतह पर काफी हलचल और शोरगुल है; इसमें कृत्रिमता का भी संकेत है। किन्तु यह सब मैकबेथ की आध्यात्मिक हलचल की सच्ची और पूर्ण अभिव्यंजना के लिए आवश्यक है। इतना ही नहीं, इसमें शेक्सपियर का स्वाभाविक विरोधाभास भी हमें देखने को मिलता है। मैकबेथ इस बात पर बल देता है और वह बल कोई महाकवि ही दे सकता है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं होता। पर जैसा एक आलोचक ने बताया है, उसी क्षण बड़े शानदार ढंग से जीवन अपनी सार्थकता प्रमाणित कर देता है और ऐसा लगता है कि मैकबेथ के पीछे शेक्सपियर निराशावाद की गहराई स्वयं माप रहा हो, किन्तु जिस क्षण वह सर्वथा अभिभूत दीखता है उसी क्षण विजय की आभा से मण्डित होकर ऊपर उठता है और वह विजय ही उसकी कविता है।

मनोविज्ञानी इस उद्धरण पर दूसरी दृष्टि से विचार करेगा। वह बिम्बों की परीक्षा करेगा, वह अन्यत्र पाये जानेवाले दूसरे तत्सदृश बिम्बों से उनकी तुलना करेगा और अपने विश्लेषण के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकालेगा कि कवि कुछ दमनों एवं मनोग्रंथियों का शिकार था। वह मैकबेथ को अधीरता से दूर उठा फेंकेगा और मनुष्य के रूप में शेक्सपियर से निबटने की कोशिश करेगा। वह जिन रहस्यों का उद्घाटन करेगा वे संभवतः रोचक होंगे, किन्तु यह भी निश्चित है कि वे असंगत होंगे। शेक्सपियर का आन्तरिक मानसिक इतिहास जो भी रहा हो, इस उद्धरण में वह कलाकार के रूप में कतिपय उग्र भावों को अभिव्यक्त कर रहा है जो उसके अपने नहीं भी हो

सकते हैं। मनोविज्ञानी प्रायः यह भूल जाता है कि सभी मानवीय संवेग कवि के सामने केवल अनगढ़ वस्तु के रूप में आते हैं जिनपर वह नूतन भंगिमा या कलात्मक रूप आरोपित करता है। यह आवश्यक नहीं कि वह सदा अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को ही हमारे सामने अभिव्यक्त करे।

हम बोदुएँ के उद्धरण पर लौट चलें। उसमें स्वप्न और कविता के बीच अप्रत्यक्ष तुलना है जिसपर विस्तार से उसने अन्यत्र विचार किया है। हमारे स्वप्नों और कविताओं में कल्पना का क्या स्थान है, इसकी ओर भी वह इंगित करता है और यह भी बताता है कि एक ही कल्पना दोनों में काम करती है। "कविता को कला का प्रतिनिधि मानकर हम कह सकते हैं कि स्वप्न और कविता, दोनों में कला का विकास बिलकुल एक प्रकार का होता है। हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्यात्मक कल्पना अथवा काव्यात्मक कल्पना नाम की कोई चीज नहीं होती, होती है केवल कल्पना। दूसरे शब्दों में, स्वप्न अथवा दिवास्वप्न तथा कविता के बीच जो भेद है वह उनमें प्रयुक्त कल्पना का प्रकार-भेद नहीं है।"[१२]

"सौन्दर्यात्मक कल्पना या काव्यात्मक कल्पना नाम की कोई चीज नहीं होती, होती है केवल कल्पना"—इस कथन की सत्यता की परीक्षा आवश्यक नहीं है। यह स्पष्ट है कि स्वप्न में कल्पना से जो प्रभाव उत्पन्न होता है वह कविता में उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले प्रभाव से मूलतः भिन्न हुआ करता है। कहते हैं कि स्वप्न कल्पना के सहज विलास को प्रस्तुत करता है। कविता में कल्पना का स्वतंत्र और सहज विलास होता ही नहीं; सुनिश्चित कलात्मक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कवि कल्पना का बड़ा ही नियंत्रित प्रयोग करता है। बोदुएँ जब यह कहता है कि कविता में कल्पना स्वच्छंद रहती है तो वह इस अन्तर को स्वीकार करता है। कल्पना तार्किक नियंत्रण से मुक्त होकर संवेदनशीलता के पोषण में लग जाती है। संवेदनशीलता केवल कविता में ही कल्पना का नियंत्रण और मार्ग-निर्देशन नहीं करती, बल्कि अधोवर्त्ती (सबजेसेण्ट) संवेदनशीलता स्वप्नों में भी बिम्बों को जगाती और उनकी व्याख्या करती है। किन्तु साधारण स्वप्नद्रष्टा की संवेदनशीलता से कवि की संवेदनशीलता भिन्न हुआ करती है। "हम कह सकते हैं कि स्वप्न साधारण संवेदनशीलता की जागरूकता का परिणाम है और जब वही संवेदनशीलता परिमार्जित कल्पना से अनुप्राणित हो जाती है तो उसकी परिणति कविता में होती है।"

कल्पना की इस चर्चा से हम अप्रत्यक्ष रूप से संवेदनशीलता पर आ गये हैं और इतने झमेले के बाद हमारे सामने वह बात आती है जो आलोचना में बिलकुल साधारण-सी चीज है अर्थात् सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कवि की संवेदनशीलता अधिक परिमार्जित होती है। वह किस रूप में अधिक परिमार्जित होती है, यह स्पष्ट नहीं है; इसे हमारी कल्पना पर छोड़ दिया गया है। और अब यह अन्तिम घोषणा हमारे सामने है जो है तो बिलकुल साधारण किन्तु उपस्थित की गयी है इस ढंग से मानो वह कोई आश्चर्यकर रहस्य हो—"इस तरह प्रतीक स्वयं संवेदनशीलता की भाषा बन जाता है"।[१३]

प्रतीक के महत्त्व पर बल देने मात्र से संतुष्ट न होकर बोदुएँ एक अपूर्व और महत्त्वपूर्ण नियम की ओर संकेत करता है जिसे वह बिम्बों के आत्मनिष्ठीकरण का नियम कहता है। इस नियम के अनुसार जो रचनाएँ आपाततः धारणा में वस्तुनिष्ठ होती हैं, वे अनुभूति के समय कवि की आत्मा में प्रतीकात्मक रूप में आत्मनिष्ठ होकर उपस्थित होती हैं। ऐसी अनुभूति अनैच्छिक (इन्वोलण्टरी) और अवचेतन होती है किन्तु इसी कारण वह पीछे चलकर अधिक प्रभावी बन जाती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई भी कलाकृति न्यूनाधिक रूप में आत्मनिष्ठ होती है अर्थात् उसमें कलाकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। किन्तु बोदुएँ केवल इतना ही नहीं मानता। वह अपनी बात इस रूप में कहता है—"यह इन्द्रियों की अथवा प्रकृति की प्रवृत्तिमात्र नहीं है जो किसी कलाकृति की मौलिकता का निर्धारण करती है और जो उसपर लेखक की छाप डालती है। सबसे बढ़कर यह बिम्बों को आत्मनिष्ठ करने की सहज शक्ति भी है। इस दृष्टि से यह सच है कि कलाकार जितने चित्रों का निर्माण करता है उन सबमें वह अपनी ही छवि अंकित करता है।"[१४] सामान्य सिद्धान्त के रूप में यह मत असंगत ही नहीं, हानिकर भी है। कवि आत्मा में चल रहे आत्मनिष्ठ संघर्ष को कभी जानबूझकर वस्तुनिष्ठ रूप दे सकता है, कभी वह ऐसा अनजाने एवं अनिच्छा से भी कर सकता है। उदाहरणार्थ, 'दि ईव्ह ऑफ सेण्ट एग्नेस' और 'ला बेल दाम साँ मरसी' में कीट्स अपनी वैयक्तिक कामनाओं और अपनी भ्रम-मुक्ति को वस्तुनिष्ठ रूप देता है किन्तु यह कहना कि वह अपनी सभी कविताओं में ऐसा करता है, असंगत होगा। यह स्वीकृत तथ्य है कि कवि अपनी अनुभूति की सीमा के पार नहीं जा सकता। पर यह

कथन इस कथन से भिन्न है कि कवि जाने या अनजाने सदा अपने दमित विचारों और भावनाओं को ही अभिव्यक्त करता है। रहस्यवादी के अनुसार पदातिक (कैटरपिलर) को उत्पन्न करने के पहले ईश्वर अनिवार्यतः अपने को उससे एकरूप कर लेता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर पदातिक है। इसी प्रकार स्वयं हैमलेट या मैकबेथ हुए बिना शेक्सपियर में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह हैमलेट अथवा मैकबेथ की अन्तरात्मा में प्रवेश कर सके पर उसके चरित्र (पात्र) जिन मनोग्रंथियों के शिकार हों उनका वह स्वयं भी शिकार हो, यह बिलकुल आवश्यक नहीं है। इस विषय पर यहाँ अधिक रुकने की आवश्यकता नहीं; यह विषय बाद में फिर उपस्थित होगा।

बोदुएँ ने दो मार्ग बताये हैं जिनके द्वारा मनोविज्ञान साहित्यालोचन की सहायता कर सकता है। रीड तीन अन्य मार्गों का निर्देश करता है जिनके द्वारा मनोविश्लेषण आलोचक की व्यापार-सम्बन्धी हमारी धारणा को आपरिवर्तित कर सकता है। वह मनोविश्लेषण और आलोचना की विषयवस्तु के अन्तर से परिचित है। इसलिए वह इसकी संभावना नहीं देखता कि मनोविश्लेषण साहित्यालोचन पर कोई मौलिक प्रभाव डाल सकता है। फिर भी वह तीन संभावित मार्गों की कल्पना करता है जिनमें मनोविश्लेषण के अन्वेषण आलोचक के कुछ काम आ सकते हैं। एक तो यह कि वह आभिजात्य (क्लासिक) और स्वच्छन्दता (रोमाण्टिक) के शाश्वत विरोध को दूर करने में और एक सामान्य दृष्टिकोण उपस्थित करने में सहायता कर सकता है। रीड युंग के मनोवैज्ञानिक प्रकारों की ओर इंगित करता है। उसका कहना है कि "युंग दो मौलिक प्रकारों—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी—के बीच इस आधार पर अन्तर करता है कि व्यक्ति-विशेष की मानसिक ऊर्जा बाहर दृश्य एवं वास्तविक संसार की ओर उन्मुख है अथवा भीतर विचार और बिम्ब के संसार की ओर।"[१५] इन दो मौलिक प्रकारों के अनेक उपभेद हैं जिनकी चर्चा अनावश्यक है। रीड का खयाल है कि ये मनोवैज्ञानिक प्रकार साहित्यिक प्रकारों के निरूपण का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हैं। आप देखेंगे कि जहाँ स्वच्छन्दतावादी कलाकार सदा अन्तर्मुखी अभिवृत्ति के व्यापार का वर्णन करता है वहाँ आभिजात्यवादी कलाकार सदा बहिर्मुखी अभिवृत्ति के किसी-न-किसी व्यापार का वर्णन करता है।"[१६] किन्तु इससे हमें कोई लाभ नहीं होता। अभिजात और स्वच्छन्द दो विरोधी प्रकार हैं, यह मनोविश्लेषण के बिना भी हम जानते हैं। दो नये मनोवैज्ञानिक

शब्दों के प्रयोग से कोई वास्तविक अन्तर नहीं आता। हाँ, इन शब्दों से उन लोगों को अवश्य संतोष हो सकता है जो वैज्ञानिक सामग्री के प्रति अधिक श्रद्धा रखते हैं। वे कह सकते हैं कि उन्हें उस वस्तु का वैज्ञानिक आधार मिल गया है, जिससे और लोग पहले से ही अवगत हैं। आलोचना को न तो इन नये शब्दों की जरूरत है और न मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इन शब्दों के जो अर्थ हैं, उनकी जरूरत है। युंग की सहायता के बिना भी आलोचक यह जानता है कि स्वच्छन्दतावादी कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी होती है अर्थात् वह विचार और बिम्ब के संसार को देखता है और आभिजात्यवादी कवि की दृष्टि बाहर की ओर, दृश्य और वास्तविक संसार पर, टिकी रहती है। इसके अतिरिक्त, जो आलोचक अपना उत्तरदायित्व समझता है उसे इस उपदेश की आवश्यकता नहीं कि मनोविज्ञानी के समान उसे भी संघर्ष के ऊपर रहना चाहिए और यद्यपि उसकी अपनी मनोवैज्ञानिक स्थिति उसे एक या दोनों सम्प्रदायों के साथ सहानुभूति व्यक्त करने को प्रेरित कर सकती है, फिर भी वैज्ञानिक आलोचक की हैसियत से उसकी अभिवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए। जो आलोचक इस प्रवृत्ति का है वह आलोचक ही नहीं है—वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक का तो प्रश्न ही नहीं उठता। साहित्य में स्वछन्दतावादी और आभिजात्यवादी तत्त्व वास्तविक हैं और आलोचक उनकी उपेक्षा करे, यह संभव नहीं है। यह बात और है कि वह उन्हें मानव-प्रकृति के जैविक विरोधों की अभिव्यक्ति माने या न माने।

साहित्य में मनोविज्ञान के प्रयोग की, जिसकी ओर रीड ने संकेत किया है, दूसरी सफल दिशा वह है जिसमें युंग की आदिम बिम्बों की धारणा वाली बात पायी जाती है। आधुनिक सिद्धान्त व्यक्तिगत स्मृति की व्याख्या अनुभूति द्वारा उत्पादित शरीरक्रिया-विज्ञान के चिह्नों के आधार पर करता है। ऐसा माना जाता है कि जो व्यक्तिगत रूप से घटित होता है वह सामूहिक रूप से भी घटित होना चाहिए। अनुकूलता और अस्तित्व के लिए होनेवाले संघर्ष के चिह्न सामूहिक रूप से काम करनेवाले मन पर अवश्य पड़ते हैं। असंख्य चिह्नों की वृद्धि मस्तिष्क की भौतिक संरचना में परिणत होती है जो फिर विचार के कुछ अनिवार्य रूपों में बदल जाती है। इन्हें ही युंग आदिम बिम्ब कहता है। ऐसे बिम्ब अन्ततः मिथकों और धर्मों का आकार ग्रहण कर लेते हैं। कभी-कभी सामूहिक विचार साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं।

बुर्कहार्ट के एक पत्र से युंग निम्नलिखित अर्थगर्भ वाक्य उद्धृत करता है : "फाउस्त में आप जो पा सकते हैं, उसे अन्तःप्रज्ञा से भी पा सकते हैं। फाउस्त शुद्ध और वास्तविक मिथक, अथवा यों कहिए कि महान् आदिम धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने ढंग से अपनी प्रकृति और भाग्य को देख सकता है। मैं एक तुलना करूँ। ईडिपस-आख्यान और प्राचीन यूनानियों के बीच यदि कोई व्याख्याकार आ खड़ा होता तो उन्हें कैसा लगता ? ईडिपस आख्यान का सूत्र प्रत्येक यूनानी में वर्त्तमान था जो चाहता था कि उसका प्रत्यक्ष प्रयोग हो और वह अपने ढंग से अपनी प्रतिक्रिया दिखाए। यही बात जर्मन राष्ट्र और फाउस्त के बारे में भी सही है।"[१७]

रीड इस संदर्भ को उद्धृत कर इसमें व्यक्त विचारों की शृंखला को कायम रखते हुए इस सम्भावना पर बल देता है कि कवि-कल्पना द्वारा जो प्रकार वास्तविक रूप ग्रहण कर चुके हैं उनका सम्बन्ध समुदाय के मूल बिम्बों की उत्पत्ति से जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार आलोचना को एक और मौलिक वास्तविकता हाथ लगेगी जिस पर कला की प्राक्कल्पना आश्रित हो।[१८] इतने से ही संतुष्ट न होकर रीड यह साहसपूर्ण संकेत भी करता है कि सम्भवतः आलोचना कुछ और आगे बढ़कर मनोविश्लेषक के निर्देशन में सामूहिक मन की आवश्यकता को लक्षित कर सकती है। बुद्धि की प्रगति के साथ हम सामूहिक मन का प्रमुख ऐतिहासिक आधार खो बैठे हैं। धर्म के प्रतीक अब प्रभावी नहीं रह गये हैं क्योंकि अब वे अवचेतन भी नहीं रह गये हैं। फिर भी मन की संरचनात्मक विशेषताएँ तो हममें हैं ही जो निश्चित संतुष्टि चाहती हैं। आधुनिक संसार अशान्त है क्योंकि इसमें असंतुष्ट बुभुक्षा की अभिव्यक्ति है। आवश्यकता इस बात की है कि सामूहिक मन में जिन धुँधली इच्छाओं का अस्तित्व है उन्हें एकरूप होकर प्रकाश में लाया जाए। आलोचक के साथ मिलकर मनोविज्ञानी क्या इस समस्या का लक्षण और समाधान प्रस्तुत कर सकेंगे ?[१९]

स्पष्ट ही यहाँ चिन्तन की जटिलता दीख रही है। जैसा कहा गया है, धर्म के प्रतीक इसलिए प्रभावी नहीं रह गये हैं कि वे अवचेतन नहीं रह गये हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि आलोचक और मनोविश्लेषक को मिलकर सामूहिक मन में रहनेवाली धुँधली इच्छाओं को लक्षित करना चाहिए।

उनसे संभवतः इस बात की भी आशा की जाती है कि वे धर्म के प्रतीकों की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद नये प्रतीकों की प्रतीति कराएँ और ये वांछनीय वस्तुएँ सचेत रूप से की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, इसमें मनोविश्लेषण के प्रति चाटुकार की प्रवृत्ति दीखती है, जिससे रीड अभ्यस्त है। जैसा उसके साथ हमेशा देखा जाता है, वह निश्चित तथ्य और कोरे सिद्धान्त के बीच अन्तर नहीं करता। वह मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों और प्राक्कल्पनाओं को वैज्ञानिक रूप से निश्चित तथ्यों के रूप में स्वीकार कर लेता है। मनोविश्लेषण में उसका पूर्ण विश्वास है और हम यह मानने को बाध्य हैं कि मनोविश्लेषण को वह आलोचना का ही नहीं, मानवता का भी रक्षक समझता है। मनोविश्लेषण की लाभप्रदता में उसकी आस्था मनोविश्लेषकों की अपेक्षा भी अधिक गाढ़ी है।

साहित्य में मनोविश्लेषण के विनियोग की फलप्रद दिशा की परीक्षा करना अनावश्यक है जिसकी ओर रीड ने इतनी स्पष्टता से संकेत किया है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह फलप्रद दिशा अंधी गली में जाकर समाप्त हो जानेवाली है। इस संकेत में और भी कई बातें निहित हैं, जैसे—सामूहिक अवचेतन, जातीय स्मृति, आदिम बिम्ब आदि के साक्ष्य की परीक्षा। इन विषयों की चर्चा बाद में की जाएगी। यहाँ उनके प्रति अपना संदेह व्यक्त करना ही हमारे लिए काफी है।

रीड का तीसरा सुझाव अधिक संगत है। "आलोचक के व्यापार की सीमा के भीतर अभिवृत्तियाँ तो अनेक संभव हैं पर प्रश्न यह है कि मनोविश्लेषण उनमें से किस पर बल देगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ, सहिष्णुता के सामान्य उपदेश के अतिरिक्त उसका और कोई अर्थ नहीं होता।"[२०] इस उपदेश से हमारा कोई विवाद नहीं है। कुछ आलोचकों को इसकी आवश्यकता भी पड़ सकती है। आगे रीड कहता है : "मानवीय क्रियाएँ इतनी अन्तःसम्बद्ध और अप्राप्त क्षतिपूर्तियों की इतनी उत्पादक दिखायी देती हैं कि ऊर्जा और बुद्धि का संकीर्ण, सीमित उपयोग वास्तविकता की विकृति में परिणत हो जाता है। इसीलिए सर्वथा निरुपाधि (कैटेगोरिकल) आलोचना निरर्थक है।"[२१] यह कथन आसानी से स्वीकार किया जा सकता है। सर्वथा निरुपाधि आलोचना की निरर्थकता पर्याप्त स्पष्ट है। आलोचक से इस बात की आशा की जाती है कि उसे जीवन की जटिलताओं का ज्ञान हो, साथ

बुर्कहार्ट के एक पत्र से युंग निम्नलिखित अर्थगर्भ वाक्य उद्धृत करता है : "फाउस्त में आप जो पा सकते हैं, उसे अन्तःप्रज्ञा से भी पा सकते हैं। फाउस्त शुद्ध और वास्तविक मिथक, अथवा यों कहिए कि महान् आदिम धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने ढंग से अपनी प्रकृति और भाग्य को देख सकता है। मैं एक तुलना करूँ। ईडिपस-आख्यान और प्राचीन यूनानियों के बीच यदि कोई व्याख्याकार आ खड़ा होता तो उन्हें कैसा लगता ? ईडिपस आख्यान का सूत्र प्रत्येक यूनानी में वर्त्तमान था जो चाहता था कि उसका प्रत्यक्ष प्रयोग हो और वह अपने ढंग से अपनी प्रतिक्रिया दिखाए। यही बात जर्मन राष्ट्र और फाउस्त के बारे में भी सही है।"[१७]

रीड इस संदर्भ को उद्धृत कर इसमें व्यक्त विचारों की श्रृंखला को कायम रखते हुए इस सम्भावना पर बल देता है कि कवि-कल्पना द्वारा जो प्रकार वास्तविक रूप ग्रहण कर चुके हैं उनका सम्बन्ध समुदाय के मूल बिम्बों की उत्पत्ति से जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार आलोचना को एक और मौलिक वास्तविकता हाथ लगेगी जिस पर कला की प्राक्कल्पना आश्रित हो।[१८] इतने से ही संतुष्ट न होकर रीड यह साहसपूर्ण संकेत भी करता है कि सम्भवतः आलोचना कुछ और आगे बढ़कर मनोविश्लेषक के निर्देशन में सामूहिक मन की आवश्यकता को लक्षित कर सकती है। बुद्धि की प्रगति के साथ हम सामूहिक मन का प्रमुख ऐतिहासिक आधार खो बैठे हैं। धर्म के प्रतीक अब प्रभावी नहीं रह गये हैं क्योंकि अब वे अवचेतन भी नहीं रह गये हैं। फिर भी मन की संरचनात्मक विशेषताएँ तो हममें हैं ही जो निश्चित संतुष्टि चाहती हैं। आधुनिक संसार अशान्त है क्योंकि इसमें असंतुष्ट बुभुक्षा की अभिव्यक्ति है। आवश्यकता इस बात की है कि सामूहिक मन में जिन धुँधली इच्छाओं का अस्तित्व है उन्हें एकरूप होकर प्रकाश में लाया जाए। आलोचक के साथ मिलकर मनोविज्ञानी क्या इस समस्या का लक्षण और समाधान प्रस्तुत कर सकेंगे ?[१९]

स्पष्ट ही यहाँ चिन्तन की जटिलता दीख रही है। जैसा कहा गया है, धर्म के प्रतीक इसलिए प्रभावी नहीं रह गये हैं कि वे अवचेतन नहीं रह गये हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि आलोचक और मनोविश्लेषक को मिलकर सामूहिक मन में रहनेवाली धुँधली इच्छाओं को लक्षित करना चाहिए।

उनसे संभवतः इस बात की भी आशा की जाती है कि वे धर्म के प्रतीकों की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद नये प्रतीकों की प्रतीति कराएँ और ये वांछनीय वस्तुएँ सचेत रूप से की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, इसमें मनोविश्लेषण के प्रति चाटुकार की प्रवृत्ति दीखती है, जिससे रीड अभ्यस्त है। जैसा उसके साथ हमेशा देखा जाता है, वह निश्चित तथ्य और कोरे सिद्धान्त के बीच अन्तर नहीं करता। वह मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों और प्राक्कल्पनाओं को वैज्ञानिक रूप से निश्चित तथ्यों के रूप में स्वीकार कर लेता है। मनोविश्लेषण में उसका पूर्ण विश्वास है और हम यह मानने को वाध्य हैं कि मनोविश्लेषण को वह आलोचना का ही नहीं, मानवता का भी रक्षक समझता है। मनोविश्लेषण की लाभप्रदता में उसकी आस्था मनोविश्लेषकों की अपेक्षा भी अधिक गाढ़ी है।

साहित्य में मनोविश्लेषण के विनियोग की फलप्रद दिशा की परीक्षा करना अनावश्यक है जिसकी ओर रीड ने इतनी स्पष्टता से संकेत किया है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह फलप्रद दिशा अंधी गली में जाकर समाप्त हो जानेवाली है। इस संकेत में और भी कई बातें निहित हैं, जैसे—सामूहिक अवचेतन, जातीय स्मृति, आदिम बिम्ब आदि के साक्ष्य की परीक्षा। इन विषयों की चर्चा बाद में की जाएगी। यहाँ उनके प्रति अपना संदेह व्यक्त करना ही हमारे लिए काफी है।

रीड का तीसरा सुझाव अधिक संगत है। "आलोचक के व्यापार की सीमा के भीतर अभिवृत्तियाँ तो अनेक संभव हैं पर प्रश्न यह है कि मनोविश्लेषण उनमें से किस पर बल देगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ, सहिष्णुता के सामान्य उपदेश के अतिरिक्त उसका और कोई अर्थ नहीं होता।"[२०] इस उपदेश से हमारा कोई विवाद नहीं है। कुछ आलोचकों को इसकी आवश्यकता भी पड़ सकती है। आगे रीड कहता है : "मानवीय क्रियाएँ इतनी अन्तः-सम्बद्ध और अप्राप्त क्षतिपूर्तियों की इतनी उत्पादक दिखायी देती हैं कि ऊर्जा और बुद्धि का संकीर्ण, सीमित उपयोग वास्तविकता की विकृति में परिणत हो जाता है। इसीलिए सर्वथा निरुपाधि (कैटेगोरिकल) आलोचना निरर्थक है।"[२१] यह कथन आसानी से स्वीकार किया जा सकता है। सर्वथा निरुपाधि आलोचना की निरर्थकता पर्याप्त स्पष्ट है। आलोचक से इस बात की आशा की जाती है कि उसे जीवन की जटिलताओं का ज्ञान हो, साथ

ही इस बात का भी कि मानवीय क्रियाएँ अन्तःसम्बद्ध हैं।

◆ ◆ ◆

१. साइको-अनैलिसिस एण्ड ईस्थेटिक्स ।

२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४. वही ।

१५. कलेक्टेड एसेज़ ।

१६, १७, १८, १९, २०, २१. वही ।

◆ ◆ ◆

६

सिंहावलोकन

फ्रायड की कलाविषयक धारणा उसकी मानवीय संस्कृति और सभ्यता की धारणा से आबद्ध है। उसका विश्वास है कि "सभ्यता का निर्माण, अस्तित्व के संघर्ष के दबाव में, आदिम आवेगों की संतुष्टि के त्याग के द्वारा हुआ है। इस रूप में जिन सहज शक्तियों का उपयोग होता है उनमें यौन-शक्तियाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस भाँति उनका उदात्तीकरण होता है। कहने का तात्पर्य यह कि उनकी ऊर्जा यौन लक्ष्य से हटकर दूसरे लक्ष्यों की ओर मुड़ जाती है जो यौन या सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् नहीं रह जाते।"[१] सहज वृत्तियों की संतुष्टि ही फ्रायड को मानव-प्रकृति द्वारा अपेक्षित उचित संतुष्टि प्रतीत होती है; बाकी सब कुछ कृत्रिम अधिशेष (सर्प्लस) है। संस्कृति मानव-प्रकृति की आवश्यकता नहीं है; वह कृत्रिम वस्तु है जो मानवता द्वारा आदिम आवेगों की संतुष्टि के लिए किये गये त्यागों का परिणाम है। फ्रायड इस स्पष्ट तथ्य को भूल जाता है कि मनुष्य केवल पशु नहीं है और अन्तःप्रज्ञा ही एकमात्र उसका मार्गदर्शक नहीं है। उसे बुद्धि है जो सम्भवतः अधिक महत्त्वपूर्ण है और जिसकी संतुष्टि आवश्यक है। बुद्धि की वह संतुष्टि ही संस्कृति है। संस्कृति की सामान्य आवश्यकता मनुष्य की प्रकृति का अनिवार्य अंश है। पशुओं को संस्कृति की आवश्यकता नहीं होती चूँकि वे पशु हैं। उनकी भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि ही उन्हें तृप्त कर देती है।

फ्रायड के अनुसार संस्कृति आदिम आवेगों के उदात्तीकरण का परिणाम है। संस्कृति, कला, धर्म, ये सब उदात्तीकरण के विभिन्न रूप हैं। किन्तु उदात्तीकरण की धारणा से संस्कृति, कला और धर्म की उत्पत्ति मानना सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य नहीं है। डैल्बीज़ लिखता है—"इसमें विवाद नहीं किया जा सकता कि विभिन्न मानसिक व्यापार परस्परसम्बद्ध हैं और उनमें से किसी एक की तीव्र क्रिया दूसरी क्रियाओं को निर्बल बना देती है। रिबोट ने ठीक ही कहा है कि किसी गणित को हल करनेवाले गणितज्ञ

में तथा शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति में लीन व्यक्ति में तंत्रिकीय अन्तःपूर (नर्वस इन्फ्लक्स) का समान रूप में ही व्यय नहीं होता, और एक प्रकार का व्यय दूसरे में बाधा डालता है, क्योंकि ऊर्जा की सम्पूर्ण मात्रा दो उद्देश्यों के लिए एक साथ नहीं प्राप्त हो सकती।"

स्पष्ट है कि संस्कृति उदात्तीकृत यौनता नहीं है। उसकी उत्पत्ति मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकता से होती है। मनुष्य में संस्कृति की ओर बढ़ने की सहज प्रवृत्ति होती है और यह सहज प्रवृत्ति उतनी ही नैसर्गिक होती है, जितना यौन आवेग। यह भिन्न किन्तु उच्चतर आवेग है, उच्चतर इसलिए कि यह मनुष्य को पशुओं से पृथक् करता है। मनुष्य इस उच्चतर आवेग की संतुष्टि का सहज ढंग से प्रयास करता है और वह संतुष्टि यौन आवेग की संतुष्टि से किसी प्रकार कम आवश्यक नहीं होती; यहाँ तक कि मनुष्य उस संतुष्टि के लिए यौन-संतुष्टि का त्याग करने को भी प्रस्तुत हो जाता है। यौन आवेग की तृप्ति से हमें तीव्र और तात्कालिक संतुष्टि होती है किन्तु वह आनन्द चिरस्थायी नहीं होता। संस्कृति से जो आनन्द प्राप्त होता है वह तीव्र तो कम होता है किन्तु स्थायी अधिक होता है। मनुष्य उस संतुष्टि को इतना मूल्यवान् मानता है कि वह अकेले ही उसका उपभोग नहीं करना चाहता, उसे आनेवाली पीढ़ियों तक संचारित करना चाहता है। फ्रायड के अनुसार, इस संचारण के लिए सामूहिक मन की कल्पना अथवा मानवजाति के मानसिक जीवन में सातत्य (कंटिन्युइटी) की कल्पना काम करती है जिसके चलते मानसिक क्रियाओं में व्यक्तियों की मृत्यु से उत्पन्न होनेवाले अवरोध निष्क्रिय हो जाते हैं। वह फिर कहता है—"यह बात संभवतः सब के ध्यान में आयी होगी कि हम सामूहिक मन की कल्पना पर सब कुछ आश्रित करते हैं जिसमें मानसिक प्रक्रियाएँ उसी रूप में घटित होती हैं जिस रूप में किसी मनुष्य के व्यक्तिगत मानसिक जीवन में।"[२]

सामूहिक मन की यह धारणा अवैज्ञानिक है क्योंकि यह उपार्जित वस्तुओं की वंशागति पर आधारित है और यह ऐसा तथ्य है जिसे वैज्ञानिक रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः अनिवार्य उपकल्पना के रूप में इस धारणा की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जैसा मैलिनोव्स्की ने प्रदर्शित किया है, संस्कृति के संचारण की व्याख्या सामूहिक मन की इस धारणा के बिना भी संभव है। "मानवविज्ञानी बड़ी स्पष्टता से उस माध्यम को बता

सकते हैं जिसमें आनेवाली पीढ़ी के लिए प्रत्येक पीढ़ी की अनुभूतियाँ संचित और संगृहीत होती हैं। यह माध्यम भौतिक वस्तुओं, परम्पराओं और रूढ़ मानसिक प्रक्रियाओं का वह समुदाय है जिसे हम संस्कृति कहते हैं। यह अधिवैयक्तिक (सुपर-इंडिविजुअल) है किन्तु मनोवैज्ञानिक नहीं। इस साँचे को मानव ढालता है और बदले में उससे स्वयं ढाला जाता है। यह एकमात्र माध्यम है जिसमें मनुष्य अपने सर्जनात्मक आवेगों को अभिव्यक्त कर सकता है और इस प्रकार मानवीय मूल्यों के संचित कोष में अपना योगदान कर सकता है। यह एकमात्र भंडार है जिससे आवश्यकता पड़ने पर अपने लाभ के लिए कोई व्यक्ति दूसरों की अनुभूतियों का उपयोग कर सकता है।"[३]

सामूहिक मन की यह धारणा स्वीकार नहीं की जा सकती। फ्रायड की दूसरी उपकल्पनाएँ भी, जिस रूप में वह उनकी व्याख्या या प्रयोग करता है, स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ, ईडिपस-ग्रन्थि को ले लें। फ्रायड के पास ईडिपस-ग्रन्थि के समर्थन के लिए कुछ अखंडनीय, नैदानिक (क्लिनिकल) तथ्य हो सकते हैं किन्तु इसके इर्द-गिर्द उसने कल्पना का विशाल और भव्य ताना-बाना बुन रखा है। फ्रायड के अनुसार इस केन्द्रीय धारणा से धर्म, नैतिकता, संस्कृति, कला, विज्ञान अर्थात् प्रत्येक वस्तु की व्याख्या की जा सकती है और एकमात्र वही व्याख्या संतोषप्रद होगी। शैशवकालीन यौनता ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार किया जा सकता है किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि वयस्क की यौनता से वह बहुत भिन्न है। वह अनिवार्यतः अपूर्ण और अनवकलित (अन्डिफ़रेंशिएटेड) होती है। वयस्क की यौनता पूर्ण भी होती है और अवकलित (डिफ़रेंशिएटेड) भी। सुनिश्चित यौन अभिव्यक्तियों का अभाव शैशव की सर्वथा प्राकृतिक विशेषता है; उसकी विद्यमानता अपसामान्यता (एबनॉरमेलिटी) की सूचक है अथवा कम-से-कम अकालप्रौढ़ता (प्रिकोसिटी) की। ऐसा हो सकता है कि शैशवकालीन यौनता की अपूर्ण और अनवकलित (अन्डिफ़रेंशिएटेड) विशेषता से यौनवैकृतिक आकस्मिक अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न हों जो आगे चलकर वास्तविक मनोविकृतियों में परिणत हो जाएँ किन्तु यह आकस्मिकता ही होगी। फ्रायड की भूल यही है कि वह आकस्मिक को अनिवार्य से एकरूप कर देता है।

फ्रायड की भव्य कल्पना का सम्पूर्ण प्रासाद अन्यलिंगीय (अपोज़िट सेक्स) पिता या माता के प्रति शिशु के प्रेम और इस आवेग के दमन की

केन्द्रीय धारणा पर आधारित है। उसकी आदिम जत्थे के पिता की हत्या की उपकल्पना और उससे अपराधभावना की उत्पत्ति की व्याख्या भी ऐसी ही है। फ्रायड की आदिम जत्थे की धारणा वैसी ही अस्वीकार्य है जैसी उसकी सामूहिक मन की धारणा। जैसा मैलिनोव्स्की ने कहा है, फ्रायड की यह धारणा विरुद्ध धर्मों से भरी है। मैलिनोव्स्की ने फ्रायड की इस कल्पना को चुनौती दी है और उसे मिथ्या प्रमाणित किया है। "यदि ऐसी बात हो तो हम फ्रायड की उपकल्पना को चुनौती दिये बिना नहीं रह सकते। पिता क्यों अपने पुत्रों को निकाल बाहर करेगा जब वे स्वयं स्वाभाविक और सहज ढंग से उसके संरक्षण की आवश्यकता नहीं रहने पर उससे अलग हो जाने को उत्सुक रहते हैं? क्यों युवती स्त्रियाँ पिता-माता के जत्थे से संपृक्त रहें? वे क्यों पिता से घृणा करें और उसकी मृत्यु की कामना करें? जैसा हम जानते हैं, स्वतंत्र होने में उन्हें प्रसन्नता होती है और पिता के पास लौटने का उन्हें कोई आग्रह नहीं होता। अन्ततः वे वृद्ध पुरुष की क्लेशकर और अप्रीतिकर हत्या का प्रयास भी क्यों करें? यह निश्चित है कि उसका अन्त होगा ही और इच्छा होने पर जत्थे के पास उनकी बेरोक पहुँच हो सकती है।"

फ्रायड की उपकल्पना में जो समस्याएँ निहित हैं, उनमें प्रत्येक को ये प्रश्न चुनौती देते हैं। वस्तुतः फ्रायड अपने विशाल परिवार में अनेक प्रवृत्तियों, अभ्यासों और मानसिक अभिवृत्तियों को शामिल कर देता है जो किसी भी पशु-जाति के लिए सांघातिक हो सकते हैं। स्पष्ट है कि यह विचार जैविक आधारों पर अमान्य है।

अतः इस आकर्षक किन्तु ऊटपटाँग उपकल्पना का खंडन आवश्यक है और इसके साथ ही फ्रायड की अपराध की उत्पत्ति और नैतिकता सम्बन्धी धारणा का भी। आदिम जत्थे के पिता की हत्या की आवश्यकता नहीं थी और इसलिए अपराध की भावना का भी कोई अवसर नहीं था। संस्कृति के विकास में परिणत होनेवाले आत्मीयागमन (इन्सेस्ट) की इच्छा के दमन का भी कोई अवसर नहीं था। फ्रायड की धारणा में आदिम जत्थे में अभी मनुष्यता का अविर्भाव नहीं हुआ था और मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति में कुछ भी ऐसा नहीं है जो आत्मीयागमन का विरोधी हो। फ्रायड का विश्वास है कि आत्मीयागमन का निषेध कृत्रिम निषेध है। इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? आदिम जत्थे ने, जिसमें अभी मनुष्यता का विकास नहीं हुआ था, पशुओं की यौन-

चेष्टाओं का अनुसरण किया होगा जिसमें कोई निषेध नहीं रहता। स्पष्ट है कि फ्रायड की आदिम जत्थे की धारणा में आत्मीयागमन के निषेध का कोई आधार नहीं है। आत्मीयागमन का निषेध इसलिए हुआ कि वह मनुष्य की मानवीय प्रकृति के विरुद्ध था। मनुष्य संस्कृति की स्थिति में ही रह सकता है और जैसा मैलिनोव्स्की ने प्रतिपादित किया है, परिवार संस्कृति का पालना है। मैलिनोव्स्की का कहना है कि "आत्मीयागमन का निषेध आवश्यक है, क्योंकि यदि परिवार और संस्कृति के निर्माण में उसके योगदान का हमारा विश्लेषण सही है तो संस्कृति के प्रथम आविर्भाव की स्थिति से आत्मीयागमन की संगति नहीं बैठती। किसी प्रकार की सभ्यता में, जिसकी रीतियाँ, नैतिकता और नियम आत्मीयागमन की स्वीकृति देते हों, परिवार कायम नहीं रह सकता। प्रौढ़ता के आने पर हम परिवार को खंडित होते देखते, जिससे पूर्ण सामाजिक उच्छृंखलता फैलती और जिसमें सांस्कृतिक परम्परा का कायम रहना असंभव हो जाता। आत्मीयागमन का अर्थ होता उम्र का भेद मिट जाना, पीढ़ियों का मिल जाना, भावनाओं का विघटित हो जाना और पारस्परिक कर्त्तव्यों में भयानक परिवर्तन हो जाना और यह भी तब, जब परिवार शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम होता है। ऐसी स्थिति में कोई समाज नहीं टिक सकता। सामाजिक संघटन और संस्कृति के अस्तित्व के साथ वही संस्कृति संगत हो सकती है जिसमें आत्मीयागमन वर्जित है।"[३]

आत्मीयागमन और संस्कृति परस्परविरुद्ध हैं। बात यह नहीं है कि आत्मीयागमन की इच्छाएँ स्वाभाविक हैं और संस्कृति कोई ऐसी चीज है जो हमारी आत्मीयागमन की इच्छाओं के दमन से कृत्रिम रूप से उत्पन्न होती हो। संस्कृति मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं से सम्पन्न होती है, वह कोई कृत्रिम वस्तु नहीं है। वास्तविक विरोध मनुष्य की पाशविक और मानवीय प्रकृति के बीच है। मनुष्य अपनी सहज वृत्तियों की संतुष्टि चाहता है, किन्तु उसकी बुद्धि उसे बताती है कि यही एकमात्र संतुष्टि महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैसा हमनें कहा है, मनुष्य संस्कृति की स्थिति में ही रह सकता है। पशुओं की यौन-चेष्टा से भिन्न, उच्चतर और स्थायी आनन्द की उसे स्वाभाविक इच्छा रहती है। जीवन में उच्चतर लक्ष्य के लिए कार्य करने की उसे स्वाभाविक चाह होती है। इसे ही संस्कृति कहते हैं। पूर्णता के प्रति भी उसकी उन्मुखता स्वाभाविक होती है। फ्रायड बड़ी दृढ़ता से किसी ऐसे आवेग के अस्तित्व का

खंडन करता है किन्तु उससे आश्चर्यित होने की आवश्यकता नहीं है। उसका कहना है कि "हममें से बहुतेरे इस विश्वास से पिण्ड नहीं छुड़ा पाएँगे कि मनुष्य में ही पूर्णता की ओर बढ़ने का आवेग रहता है जिसके चलते वह आज की बौद्धिक शक्तिमत्ता और नैतिक उदात्तीकरण की ऊँचाई तक पहुँचा है और जिसके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि उसका विकास अतिमानव के रूप में भी निश्चित है। किन्तु मैं किसी ऐसे आन्तरिक आवेग के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता और न इस आनन्दप्रद भ्रम को कायम रखने की आवश्यकता समझता हूँ। आज तक मनुष्य का जो विकास हुआ है वह और पशुओं के विकास से भिन्न है, इसकी व्याख्या जरूरी नहीं है। कुछ मनुष्यों में पूर्णता की ओर बढ़ने की जो अथक चेष्टा दिखायी पड़ती है वह उन सहज वृत्तियों के दमन का परिणाम है जिसपर बहुमूल्य मानव-संस्कृति निर्मित हुई है।"

फ्रायड अपना विचार बड़ी दृढ़ता और स्पष्टता से व्यक्त करता है। पूर्णता की ओर अग्रसर होनेवाला तथाकथित आवेग केवल आनन्दप्रद कल्पना है जिसका मानव-प्रकृति में कोई आधार नहीं है। यह भ्रम जिस कारण से उत्पन्न होता है वह अतिरिक्त ऊर्जा है जो आदिम आवेगों के दमन से प्रसूत होती है। ऐडलर फ्रायड से सहमत नहीं हो पाता। वह कहता है कि "जीवित वस्तुओं का सर्जनात्मक विकास हमें यह सिखाता है कि हर जाति के विकास की रूपरेखा निश्चित है। यह पूर्णता का, या यों कहें कि सृष्टि के साथ सक्रिय अनुकूलन का, लक्ष्य है। हमें समझ लेना चाहिए कि हम यहाँ एक ऐसी वस्तु का निरूपण कर रहे हैं जो आदिम है और जो आदिम जीवन से सम्बद्ध रही है। प्रश्न है पराजित करने का, व्यक्ति और मानव-जाति की स्थिरता का। इस प्रश्न का सम्बन्ध सदा व्यक्ति और बाह्य संसार के बीच अनुकूल सम्बन्ध बढ़ानें का है।"[४] फ्रायड को पूर्णता के लक्ष्य से कोई प्रयोजन नहीं है। यह पूर्णता का लक्ष्य नहीं जो जीवन का कार्यक्रम निर्धारित करता है; यह भिन्न वस्तु है जिसे फ्रायड आनन्द-सिद्धान्त कहता है। "यह सिद्धान्त आरम्भ से ही मानसिक यंत्र के व्यापार पर प्रभुत्व जमाये रहता है। इसकी सक्रियता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता, फिर भी इसका कार्यक्रम ब्रह्माण्ड से लेकर सूक्ष्म जगत् तक सम्पूर्ण संसार के विरुद्ध पड़ जाता है। इसे कार्यान्वित किया ही नहीं जा सकता, सारी वस्तुओं की

रचना इसके प्रतिकूल पड़ती है। कोई चाहे तो यह कह सकता है कि मनुष्य सुखी हो, यह बात सृष्टि के विधान के अन्तर्गत है ही नहीं।"[५]

मनुष्य की मानसिक क्रिया इस 'आनन्द-सिद्धान्त' से नियंत्रित होती है, पूर्णता की इच्छा से नहीं। अपनी सहज आवश्यकताओं की संतुष्टि से हमें आनन्द प्राप्त होता है और इसलिए हम उन्हें संतुष्ट करना चाहते हैं किन्तु यह संतुष्टि हमें सदा प्राप्त नहीं हो सकती। आवश्यकता के दबाव में पड़कर इस आनन्द-सिद्धान्त में हम थोड़ा हेर-फेर करना सीखते हैं और इसके बदले वह चीज सामने आती है जिसे फ्रायड 'यथार्थ सिद्धान्त' कहता है। हम यह भी सीखते हैं कि कैसे तात्कालिक संतुष्टि के बिना रह सकें, संतुष्टि को कैसे टाल दें और आनन्द के कुछ साधनों का कैसे सर्वथा परित्याग कर दें। कहते हैं कि इस यथार्थ सिद्धान्त की जड़ में भी आनन्द पाने की भावना ही काम करती है यद्यपि वह आनन्द विलम्ब से प्राप्त होता है और न्यून मात्रा में भी। फ्रायड इस बात का अनुभव नहीं कर पाता कि केवल आवश्यकता के दबाव में ही मनुष्य तात्कालिक संतुष्टि से विरत नहीं होता। वह स्वेच्छापूर्वक भी वैसा कर सकता है क्योंकि तात्कालिक संतुष्टि से आगे की स्थिति को भी वह देख पाता है। उसकी बुद्धि दो भिन्न विकल्पों में से एक को चुनने में उसकी सहायता करती है। वह यह भी समझ सकता है कि दो विभिन्न आचरण भिन्न मूल्यों के हैं। अपनी बुद्धि का प्रयोग कर वह अपने लिए एक ऐसी जीवन-पद्धति का विकास कर सकता है जो उसकी पाशविक और मानवीय दोनों प्रकृतियों को संतुष्ट कर सके और ऐसा करने में यह कोई आवश्यक नहीं कि उसके पाशविक और मानवीय आवेगों में संघर्ष हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस जीवन-पद्धति से उसे अधिकतम संतुष्टि उपलब्ध होगी और यह संतुष्टि पाशविक जीवन-पद्धति का अनुसरण करने से मनुष्य को नहीं प्राप्त हो सकती। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य पाशविक जीवन-पद्धति और मानवीय जीवन-पद्धति का अन्तर जानता है और वह मानवीय जीवन-पद्धति को अधिक मूल्यवान् समझता है। किन्तु ऐसे अवसर भी हैं जब फ्रायड पाशविक जीवन-पद्धति को ही अधिक मूल्यवान् मानता है। उदाहरणार्थ, जब वह यह कहता है कि आत्मीयागमन का निषेध मनुष्य के शृंगारिक जीवन पर युगों से होनेवाला संभवतः सबसे गंभीर आघात है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सभ्यता के लाभों को गंभीरतापूर्वक छोड़

देना चाहता है या आदिम जीवन-पद्धति की ओर लौट जाना चाहता है। वह वस्तुतः उन लोगों को दोषी ठहराता है जो यह कल्पना करते हैं कि इसे छोड़कर और आदिम सभ्यता की ओर लौटकर हम अधिक सुखी हो सकेंगे। किन्तु यौनता पर वह जो बल देता है और जिस स्वर में यौन स्वतंत्रता के नष्ट होने के लिए खेद प्रकट करता है, उससे यह धारणा उत्पन्न होती है कि आदिम आवेगों की पूर्ण संतुष्टि के लिए वह संस्कृति की उपलब्धि को छोड़ देने को तैयार है।

यौनता न तो संस्कृति का कारण है और न ईडिपस-ग्रन्थि संस्कृति का उद्‌गम-स्थल अथवा धर्म, नियम और नैतिकता का आरम्भ। जैसा मैलिनोव्स्की ने प्रतिपादित किया है, ईडिपस-ग्रन्थि कारण नहीं, बल्कि उपजात (बाइ-प्रोडक्ट) है; सर्जनात्मक सिद्धान्त नहीं, बल्कि कुसमायोजन (मैलऐडजस्टमेंट) है। सर्जनात्मक सिद्धान्त यदि है तो संस्कृति, ईडिपस-ग्रन्थि नहीं। संस्कृति सहज वृत्तियों और प्राकृतिकता से आगे की चीज है, वह मानवीय आवश्यकताओं तथा उन आवश्यकताओं की संतुष्टि के साधनों को उत्पन्न करती है।

संस्कृति द्वारा उत्पादित मानवीय व्यापारों में कला अन्यतम है। मनो-विश्लेषकों का कहना है कि संस्कृति और वे सारी वस्तुएँ, जिनका उससे बोध होता है, उदात्तीकरण का ही एक विशिष्ट रूप हैं। वह दमित यौन-आवेगों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। वे यह भी कहते हैं कि धर्म, नियम और नैतिकता के समान कला भी एक कृत्रिम वस्तु है जिसका प्रधान कारण यौन आवेगों का दमन ही है।

हम देख रहे हैं कि मनोविश्लेषक हवाई कल्पना के अभ्यासी हैं। बहुत थोड़े तत्त्वों के आधार पर, जिनमें अनेक की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है, वे बड़े आत्मविश्वास और युक्तियुक्तता से किसी दर्शन, विज्ञान, तत्त्व-मीमांसा, जीवन-पद्धति का निर्माण कर ले सकते हैं। जीवन का अर्थ आपके लिए क्या होना चाहिए? जो कुछ आप चाहें। उनका ख्याल है कि मनोविश्लेषण एकमात्र प्रामाणिक दिव्यज्ञान है जो हमारी सारी समस्याओं को हल कर सकता है और जो विश्व के सारे रहस्यों की व्याख्या कर सकता है। स्वभावतः वे मनोविज्ञान की दूसरी शाखाओं की उपेक्षा कर देते हैं और इस उपेक्षा का परिणाम भयंकर होता है, किन्तु सौभाग्य से वे अपने प्रमादों से अपरिचित हैं। वे यह भी नहीं अनुभव कर पाते कि लोग कैसे बराबर उन विरोधाभासों

के शिकार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, फ्रायड कलाविषयक दो भिन्न सिद्धान्तों—यौन-व्याख्या और क्रीड़ा-सिद्धान्त—के बीच दोलायित रहता है। वह कहता है—"सौन्दर्यशास्त्र उन वस्तुओं का अन्वेषण करता है जिनमें वस्तुएँ सुन्दर मानी जाती हैं। वह सौन्दर्य की उत्पत्ति अथवा प्रकृति की कोई व्याख्या नहीं कर सकता; सदा की भाँति परिणामों का अभाव निरर्थक, कोलाहलपूर्ण वाग्जाल के बीच छिपा दिया जाता है। दुर्भाग्यवश दूसरे विषयों के समान मनोविश्लेषण भी सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने में असमर्थ है। यदि निश्चित है तो इतना ही कि यौन-संवेदनाओं से उसका सम्बन्ध है। सौन्दर्य का प्रेम दमित लक्ष्य वाली संवेदना का अच्छा उदाहरण है। किसी भी यौन-वस्तु के धर्मों में सौन्दर्य और आकर्षण सर्वप्रमुख हैं। ध्यान देने की बात है कि स्वयं जननेन्द्रियाँ, जिनका देखना हमेशा ही उत्तेजक होता है, शायद ही कभी सुन्दर मानी जाती हों। सौन्दर्य-धर्म वस्तुतः कुछ गौण वैशिष्ट्यों के साथ सम्बद्ध रहता है।"[५]

वह 'लियोनार्दो दा विन्ची' में लिखता है—"यदि हमारी सामग्री अपर्याप्त न होती तो हम बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बताते कि आदिम मानसिक शक्तियों पर कलात्मक क्रिया कैसे निर्भर करती है। अभी हम इतना ही कहकर संतोष करते हैं, और जिसके बारे में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है, कि किसी कलाकार की कृति उसकी यौन-इच्छाओं को अभिव्यक्त करती है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि फ्रायड के अनुसार कला की उत्पत्ति में यौनता की निश्चित कारणता रहती है और किसी कलाकृति की सृष्टि कर कलाकार अपनी यौन इच्छाओं की अभिव्यक्ति का मार्ग पाता है। यह भी स्पष्ट है कि जिस सामग्री पर फ्रायड के निष्कर्ष आधारित हैं वह अपर्याप्त है, किन्तु फिर भी वह कहता है कि उसके निष्कर्षों में संदेह का अवकाश नहीं है। यदि कोई प्रश्न करे कि अपर्याप्त सामग्री पर आधारित निष्कर्ष कैसे संदेह से परे होंगे तो यह सर्वथा उचित होगा। फ्रायड में इतनी ईमानदारी तो है कि वह अपनी सामग्री की अपर्याप्तता स्वीकार करे, किन्तु आश्चर्य यह है कि अपर्याप्तता का यह ज्ञान उसके कला-सिद्धान्त के निर्माण में बाधक नहीं बनता। अपनी अवैज्ञानिक पद्धति से संतुष्ट नहीं होकर वह सौन्दर्यशास्त्र का मखौल उड़ाता है और कहता है कि सौन्दर्यशास्त्र प्रमाणों के अभाव को निरर्थक वाग्जाल में छिपाने की कोशिश करता है। यह आलोचना अनुचित

ही नहीं, असंगत भी है। खासकर यह तब और भी खटकती है जब इसका उपासक एक ऐसा व्यक्ति है जो अपूर्ण तत्त्वों पर सिद्धान्त-निर्माण का दोषी ठहरता है।

जैसा डैलबीज़ ने दिखाया है, इस यौन-व्याख्या के अतिरिक्त फ्रायड में हम कला में क्रीड़ा-सिद्धान्त के तत्त्व भी पाते हैं। डैलबीज़ लिखता है कि अपने वाग्वैदग्ध्य के अध्ययन में फ्रायड 'निर्दोष वाग्वैदग्ध्य' से 'सदोष वाग्वैदग्ध्य' को पृथक् कर देता है। उसका कहना है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्दोष वाग्वैदग्ध्य अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उससे जो आनन्द मिलता है वह शुद्ध रूप में पाया जाता है। फ्रायड मानसिक प्रयत्न-लाघव को इस आनन्द का कारण मानता है। मनुष्य अपने मानसिक यंत्र को वास्तविकता के नियंत्रण के अनुसार परिचालित नहीं करके संतुष्टि का अनुभव करता है। यह निष्कारण व्यायाम ही क्रीड़ा है।[६] स्वप्न और वाग्वैदग्ध्य के अन्तर को लक्षित करते हुए फ्रायड कहता है कि "चाहे स्वप्न कितना भी गुप्त क्यों न हो, वह अन्ततः इच्छा-मात्र है, जबकि वाग्वैदग्ध्य विकसित क्रीड़ा है।"[७] "वाग्वैदग्ध्य हमारे मानसिक यंत्र की उन्मुक्त और अबाधित क्रियाओं से आनन्द की अल्प मात्रा प्राप्त करना चाहता है और बाद में इस आनन्द को आनुषंगिक लाभ बना देता है।"[८] वह आगे चलकर कहता है कि "वाग्वैदग्ध्य का आरम्भ शब्दों और विचारों के प्रयोग से आनन्द पाने के लिए क्रीड़ा के रूप में होता है और शब्दों तथा विचारों का क्रीड़ा से उत्पन्न यह मौलिक आनन्द सामान्य व्ययलाघव का परिणाम होता है।"[५] वाग्वैदग्ध्य की प्रकृति के अन्वेषण को वह साधारणीकृत कर देता है क्योंकि उसकी मान्यता है कि सभी सौन्दर्यात्मक विचारों के मूल में इसका हाथ रहता है। "जब हम अपनी अनिवार्य संतुष्टि के लिए अपने मानसिक यंत्र का प्रयोग नहीं करते तो हम इसे आनन्द के लिए काम करने को छोड़ देते हैं और उसकी अपनी ही क्रिया में आनन्द ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। मैं समझता हूँ कि यह स्थिति सभी सौन्दर्यात्मक विचारों के मूल में रहती है किन्तु सौन्दर्यशास्त्र की मुझे इतनी कम जानकारी है कि उससे इस सिद्धान्त के समर्थन का मैं प्रयास नहीं कर सकता।"[६] जैसा डैलबीज़ ने कहा है, यह उद्धरण प्रदर्शित करता है कि "सौन्दर्य-सिद्धान्त के प्रति फ्रायड की जो उन्मुखता थी वह यौनता से काफी हट गयी थी और वह सिद्धान्त ऐसा था जो कल्पना-व्यापार के निष्कारण उपयोग को सौन्दर्य की

अनिवार्य शर्त्त के रूप में देखता है।"[७]

फ्रायड दोनों सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित नहीं कर सका है और न समन्वय स्थापित करना उसके लिए संभव है। उसने केवल क्रीड़ा-सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है और अन्ततः यौन व्याख्या के पक्ष में अपना मत स्थिर कर लिया है, यद्यपि ऐसा करते समय उसने कोई संतुलित, संगत, वैज्ञानिक सिद्धान्त उपस्थित नहीं किया है जो सौन्दर्यात्मक तथ्यों और प्रक्रियाओं की व्याख्या कर सके। वह परिणामों के अभाव के लिए सौन्दर्यशास्त्र की आलोचना करता है किन्तु उसके अपने प्रयास भी अधिक सफल नहीं हैं।

सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में फ्रायड और उसके सम्प्रदाय की दो प्रमुख देनों का उल्लेख डैलबीज़ ने किया है। "प्रथमतः फ्रायड और उसके सम्प्रदाय ने कलात्मक सृष्टि में अचेतन के प्रभाव पर जो बल दिया है, वह न्याय्य है। इसमें संदेह नहीं कि मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली का आलोचनात्मक प्रयोग हमें कलाकार की ग्रन्थियों के सम्बन्ध में बहुत सारी सूचनाएँ दे सकता है। यह कार्य ऐसा है जो मनोविश्लेषक के अतिरिक्त कोई और दूसरा नहीं कर सकता। द्वितीयतः यह सर्वथा निश्चित है कि कला पर यौनवृत्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यह बात मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के उद्‌भव के पहले भी ज्ञात थी किन्तु उसके बाद से और अधिक ज्ञात एवं संपुष्ट हो गयी है। अरस्तू द्वारा स्वीकृत कला का विरेचनात्मक व्यापार फ्रायड के बाद से और भी महत्त्वपूर्ण बन गया है।"[८]

कलात्मक सृष्टि में अचेतन का क्या प्रभाव है इस पर आगे विचार किया जाएगा। अभी इतना कहना पर्याप्त होगा कि कलाकार की ग्रन्थियों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ प्राप्त होंगी वे अधिकतर अप्रासंगिक होंगी; उनसे साहित्य के आलोचक को कोई विशेष सहायता नहीं मिलेगी और उन ग्रन्थियों को संभवतः वह स्वयं भी ढूँढ़ निकाल लेगा। मनोविश्लेषण के अतिरिक्त दूसरा शास्त्र भले ही यह न करे किन्तु यह ऐसा कार्य है जिसके बिना भी कोई हानि नहीं है। दूसरी देन अर्थात् यौनवृत्ति का कला पर जो प्रभाव है उसके अन्वेषण पर भी आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। डैलबीज़ स्वयं इस कल्पना का खंडन करता है कि प्रारम्भिक यौन शब्द और अन्तिम कलात्मक शब्द में कोई ऐकरूप्य सम्बन्ध है। वह इस उपकल्पना का भी खंडन करता है कि वस्तुतः विकासात्मक प्रक्रिया द्वारा यौनता से ही कला की उत्पत्ति होती

है। वह कला के स्वतंत्र गुणात्मक मूल्य को स्वीकार करता है और साथ ही यह भी मानता है कि सौन्दर्यात्मक भाव में यौनवृत्ति की देन आकस्मिक होती है, आवश्यक नहीं। ये तथ्य यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि कला पर यौनवृत्ति का उतना प्रभाव नहीं है, जितना डैलबीज़ मानता है। यदि प्रभाव है भी तो आकस्मिक ही, आवश्यक नहीं और आकस्मिक आवश्यक का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। यदि वैसा हो तो वह भी आकस्मिकता का ही उदाहरण होगा।

हम यह भी कहना चाहते हैं कि अरस्तू के मन में कला का जो विरेचनात्मक व्यापार था, वह संभवतः मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या से सर्वथा भिन्न था। मनोविश्लेषक यह कहना चाहेगा कि कला कलाकार और पाठक दोनों को विरेचन का अपेक्षित अवसर देती है। अतृप्त इच्छावाले किसी भी दूसरे व्यक्ति के समान कलाकार वास्तविकता से विमुख हो जाता है और अपनी सम्पूर्ण अभिरुचियों तथा लिबिडो को भी रम्यकल्पना के जीवन में इच्छाओं की सृष्टि में लगा देता है और इस प्रकार आवश्यक विरेचन हुआ करता है। बुभुक्षित व्यक्ति के समान पाठक भी आराम और सांत्वना के लिए कला की ओर उन्मुख होता है। अपनी रम्यकल्पना के उत्स से वह जो संतुष्टि प्राप्त कर सकता है, वह सीमित होती है। उसका कठोर दमन सामान्य दिवास्वप्नों को छोड़कर शेष उपभोग में अवरोध उपस्थित कर देता है। अतः सदा के लिए उसे कलाकार पर निर्भर करना पड़ता है। कलाकार रम्यकल्पना के जीवन को आनन्द के प्रवाह से इतना पूर्ण कर सकता है कि कुछ देर के लिए ही सही, दमनों से होनेवाली हानि की क्षतिपूर्ति हो जाती है और वह एक प्रकार से दूर हो जाती है। फ्रायड का कहना है कि कलाकृति से वास्तविक आनन्द इसलिए मिलता है कि वह कुछ मानसिक तनावों को कम कर देती है।

कला का विरेचनवादी व्यापार इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिस सिद्धान्त का वह अंग है, वही स्वीकार्य नहीं है। ये दो निश्चित देनें उतनी निश्चित नहीं हैं जितनी डैलबीज़ को प्रतीत होती हैं और यदि हम इन्हें स्वीकार भी कर लें तो वे उन मौलिक विषयों की व्याख्या नहीं कर पाएँगी, जिनकी व्याख्या करने का दावा मनोविश्लेषण करता है।

कला के यौन-सिद्धान्त का एक उपप्रमेय (कोरोलरी) यह है कि कला की

उत्पत्ति मनस्ताप से होती है। कहते हैं कि कलाकार प्रवृत्ति से मनस्तापी होता है, किन्तु वह भाग्य से सामान्य मनस्तापी की दु:स्थिति से बच जाता है। कलाकार मनस्तापी स्थिति से न तो उत्पन्न है और न हो सकता है। मनोविश्लेषक इस सीधी और स्पष्ट बात को भूल जाता है कि मनस्ताप से अव्यवस्था उत्पन्न होती है, सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् सर्जनात्मक क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। मनस्तापी व्यवस्था में अव्यवस्था ला देता है; इसके प्रतिकूल कलाकार अव्यवस्था में व्यवस्था लाता है; वह अरूप में सुन्दर रूप का आधान कर देता है।

कभी-कभी फ्रायड मनोविश्लेषण की सीमाओं को स्वीकार करता है और ऐसे अवसरों पर उसकी बातें विशेष दिलचस्प होती हैं। वह लिखता है —"सामान्य व्यक्ति मनोविश्लेषण से बहुत कुछ आशा करता है, किन्तु यह मानना होगा कि जिन दो समस्याओं में उसकी सबसे अभिरुचि रहती है उनपर मनोविश्लेषण विशेष प्रकाश नहीं डाल सकता। एक तो यह कि कलात्मक प्रतिभा की प्रकृति की वह व्याख्या नहीं कर सकता और दूसरी यह कि कलाकार के व्यापार अर्थात् कलात्मक शिल्प-विधान के सम्बन्ध में भी वह कुछ नहीं कह सकता।"[१] इस प्रकार फ्रायड स्वीकार करता है कि कलात्मक प्रतिभा के सम्बन्ध में, जो उसके अनुसार कलाकार को मनस्तापी होने से बचाती है, वह कुछ भी कहने में असमर्थ है। वह यह भी कहने में असमर्थ है कि कलाकार किस रूप में अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। कोई ऐसी रहस्यपूर्ण शक्ति है जो कलाकार में वह सामर्थ्य ला देती है जिसके चलते वह अपनी सामग्री को रम्यकल्पना के साँचे में इस खूबी से ढाल देता है कि उससे आनन्द की प्रबल धारा प्रवाहित होने लगती है। उस स्थिति में दमन आदि का अस्तित्व नहीं रह जाता। फ्रायड ने मनोविश्लेषण की जो सीमाएँ स्वीकार की हैं उनमें युंग द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं को भी हम छोड़ दे सकते हैं। "किसी दूसरी मानवीय क्रिया के समान कला भी मानसिक प्रेरणा से उत्पन्न होती है और इस दृष्टि से वह मनोविज्ञान का उचित विषय है। किन्तु यह निष्कर्ष मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रयोग की एक अत्यन्त स्पष्ट सीमा का भी संकेत करता है। कला का वही पक्ष, जो कलात्मक रूप की प्रक्रिया से सम्बद्ध है, मनोविज्ञान का विषय हो सकता है, किन्तु जो पक्ष कला की अनिवार्य प्रकृति का निर्माण करता है वह सदा इसके क्षेत्र से बाहर रहेगा।

यह दूसरा पक्ष, अर्थात् कला अपने-आपमें क्या है, मनोविज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकता। इसका विचार सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित कलात्मक प्रणाली से ही हो सकता है।"[१०]

मनोविश्लेषण कला की प्रकृति का अन्वेषण नहीं कर सकता। कला अपने-आपमें क्या है, यह समस्या मनोविश्लेषण का विषय कभी नहीं बन सकती। वह कलात्मक प्रतिभा की प्रकृति का उद्घाटन नहीं कर सकता। कलाकार के शिल्पविधान के सम्बन्ध में, जिसके द्वारा कलाकार अपनी रचना करता है, मनोविज्ञान कुछ भी सूचना नहीं दे सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि मनोविज्ञान बिलकुल ठीक उन्हीं विषयों पर मौन धारण कर लेता है जो साहित्य के आलोचक के लिए सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। और, जैसा हमने देखा है, दूसरे विषयों के सम्बन्ध में उससे जो सामग्री हमें प्राप्त होती है, वह अधिकतर अप्रासंगिक है, उसका महत्त्व संदिग्ध है और कभी-कभी वह विश्वसनीय भी नहीं है।

◆ ◆ ◆

१. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-अनैलिसिस।
२. टोटेम एण्ड टैबू।
३. सेक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसाइटी।
४. सोशल इण्टरेस्ट।
५. सिविलिज़ेशन एण्ड इट्स डिस्कण्टेण्ट्स।
६. साइको-ऐनलिटिकल मेथड एण्ड डॉक्ट्रिन ऑफ फ्रायड।
७. विट एण्ड इट्स रिलेशन टू दि अनकॉन्शस।
८. वही।
९. ऑटोबायग्राफिकल स्टडी।
१०. कन्सटिच्यूशन्स टू ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी।

७

कलाविषयक सिद्धान्त

कला कृत्रिम वस्तु नहीं है। हमारे प्राकृतिक, आदिम आवेगों के अस्वाभाविक दमन द्वारा आकस्मिक रूप से उत्पन्न वह अप्राकृतिक वस्तु भी नहीं है। वह अनिवार्यतः मानवीय सृष्टि है क्योंकि पशु-जगत् में उसका कोई स्थान नहीं है और वह संस्कृति का एक अंग, संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसे मनुष्य ने अपनी अनिवार्य और नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पन्न किया है। कला बिलकुल आदिम समाजों में भी पायी जाती है अर्थात् जहाँ भी मनुष्य प्राकृतिक स्थिति से ऊपर उठा है और अपने लिए सांस्कृतिक अवस्था का निर्माण कर पाया है, वहाँ कला पायी जाती है, भले ही वह सांस्कृतिक वातावरण अविकसित ही क्यों न हो। रीड का कहना है कि जब हम अतीत की ओर देखते हैं तो प्रागैतिहासिक युग के धूमिल क्षितिज से कला और धर्म को साथ-साथ आगे बढ़ते हुए पाते हैं।[१] हम कह सकते हैं कि कला और मानव-प्रकृति का नित्य सम्बन्ध है; कम-से-कम मानव-प्रकृति में उसका वैसा ही अस्तित्व है जैसा बीज में पुष्प का। मार्टिन टर्नेल ने लिखा है—"इतिहास साक्षी है कि कला सहज प्रक्रिया है। आदिम-से-आदिम समाजों में भी हम देखते हैं कि मनुष्य आसपास की दुनिया को अभिव्यक्त करने में आनन्द का अनुभव करता है और उसके प्रयास, चाहे कितने भी स्थूल क्यों न हों, दर्शकों द्वारा स्वेच्छापूर्वक देखे जाते हैं। वस्तुतः कला मनुष्य की किसी नैसर्गिक आवश्यकता को संतुष्ट करती है।"[२] यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसपर अधिक बल देना अनावश्यक है। तो कला नैसर्गिक मानवीय सृष्टि है और वह नैसर्गिक मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती है; साथ ही वह मनुष्य की सामान्य सांस्कृतिक चेष्टाओं का अनिवार्य अंग है।

मनुष्य सांस्कृतिक अवस्था में ही रह सकता है। जैसा मैलिनोव्स्की ने कहा है, मनुष्य का सांस्कृतिक व्यवहार प्राकृतिक स्थिति में रहनेवाले पशुओं के व्यवहार से मूलतः भिन्न होता है। "मनुष्य की संस्कृति कितनी भी सामान्य

क्यों न हो, वह भौतिक उपकरणों, अस्त्र-शस्त्रों तथा घरेलू स्थावर सम्पत्तियों का व्यवस्थापन करता है; वह समाजविशेष के भीतर रहता है, जो उसे सहायता देता है और बदले में नियंत्रित भी करता है; वह भाषा के द्वारा विचार-विनिमय करता है और इस प्रकार तार्किक और धार्मिक धारणाओं को विकसित करता है। कहने का अभिप्राय यह कि मनुष्य भौतिक सम्पत्ति का व्यवस्थापन करता है, सामाजिक संगठन के घेरे में रहता है, भाषा के द्वारा विचार-विनिमय करता है और आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा संचालित होता है। संभवतः ये ही चार प्रमुख विभाग हैं जिनके अन्तर्गत हम मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धियों को रख सकते हैं।"[३] कला आध्यात्मिक मूल्यों की अन्तिम पद्धति है जो मनुष्य को प्रेरित करती है। उसके सम्बन्ध में इतना ही जानना पर्याप्त है। कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुमान लगाना अनावश्यक और निष्प्रयोजन है। जब कला से हमारा परिचय होता है तो हम देखते हैं कि वह सिद्ध और परिणत रूप प्राप्त कर चुकी है।

मैलिनोव्स्की ने विश्वसनीय ढंग से प्रदर्शित किया है कि ईडिपस-ग्रन्थि सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं का कारण नहीं, बल्कि संस्कृति का परिणाम है। इसलिए यौनता न तो संस्कृति का आधार हो सकती है और न कला का। कला का आधार अनुभूति है। विश्व के किसी कोने में प्रकाश और वर्ण का नर्तन कलाकार की दृष्टि को अपनी ओर खींच लेता है, उसके हृदय को अभिभूत कर लेता है और उसके अन्दर एक ऐसी प्रेरणा जगाता है जो उस अनुभूति को बाहर अभिव्यक्त करने को उसे विवश कर देती है। जब आन्तरिक आवश्यकता बाह्य अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है और बाहरी सौन्दर्य अन्तस् में प्रवेश पाना चाहता है तो दोनों के एकीभाव से कलात्मक अनुभूति की सृष्टि होती है जो कला के किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त होती है। यह अनुभूति उन अतृप्त कामनाओं से मूलतः भिन्न है जो मनोविश्लेषकों के अनुसार निष्क्रिय दिवास्वप्नों को जन्म देती हैं। यह अनुभूति निष्क्रिय या किसी तंत्रिकीय अस्वस्थता का लक्षण नहीं है। यह पूर्णतः स्वस्थ और नैसर्गिक वस्तु है। इसमें वे वैयक्तिक तत्त्व भी नहीं होते जो हमारे निष्क्रिय दिवास्वप्नों में हुआ करते हैं और इसलिए जो अप्रीतिकर हो जाते हैं। यह निर्वैयक्तिक तथा निस्संग होती है; साथ ही सीमित, तात्कालिक, वैयक्तिक सार्थकता की वस्तुओं से सर्वथा तटस्थ भी

होती है। कला के सर्वाधिक वैयक्तिक रूपों में भी यह निर्वैयक्तिकता, यह निस्संगता विद्यमान रहती है। वैयक्तिक तत्त्व का परिहार हो जाने के बाद संवेग उच्चतर भूमि पर पहुँच जाता है जहाँ क्षुद्रता की छाया भी नहीं होती। संवेग वह द्रव्य है जिसका निर्वैयक्तिक और स्वतंत्र उपयोग उस गूढ़तर अर्थ को अभिव्यक्त करने की भावना से किया जाता है जिसे कलाकार उसमें देखे होता है और उस द्रव्य को ही कलात्मक रूप प्रदान किया जाता है जो उसमें विद्यमान क्षुद्र, वैयक्तिक तत्त्व की छाया को हटाने का और भी प्रयास करता है। इसी रूप में वैयक्तिकता का परिहार हुआ करता है।

अनुभूतियों की अभिव्यंजना में इतनी विविधता और इतनी संश्लिष्टता रहती है कि मनोविश्लेषक को छोड़कर कोई दूसरा उसे यौनता के साधारण नाम से संकेतित करना पसन्द नहीं करेगा, चाहे इस शब्द की व्याख्या कितनी भी उदारता से क्यों न की जाए। कभी-कभी अनुभूतियाँ यौन ढंग की हो सकती हैं, किन्तु वे सदा वैसी नहीं होतीं; वे यौन आवेगों का आवरण या स्थानापन्न भी नहीं हैं। वे मूलतः मानवीय अनुभूतियाँ हैं।

कला को क्रीड़ा कहा गया है। देखने में निश्चय ही यह निरुपयोगी चेष्टा है। कलाकार जमीन जोतने या मकान बनाने जैसा कोई स्पष्ट उपयोगी काम नहीं करता। उसकी चेष्टा का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं दीखता, किन्तु साथ ही वह सर्वथा निरुपयोगी भी नहीं है। हम उसका सर्वथा निराकरण नहीं कर सकते। इसलिए यह प्रत्यक्ष साधन ढूँढ़ निकाला गया है जिसके द्वारा उसे उपयोगी बनाया जा सके। क्रीड़ा के समान ही वह (कला) अतिरिक्त ऊर्जा के व्यय का साधन है। बच्चा अपनी अतिरिक्त ऊर्जा को आपाततः निरुद्देश्य कार्यों में लगाता है। कला-सृष्टि के समय कलाकार भी अपनी ऊर्जा को काम में ला रहा है, ऐसा समझा जाता है। यह ऊर्जा अतिरिक्त होते हुए भी शक्तिशाली होती है जो प्रतिदिन की जैविक और व्यावहारिक आवश्यकताओं के रूप में निर्गत होती है। रिचर्ड्स ने लिखा है कि "कला को क्रीड़ा मानने का सिद्धान्त दूसरे अनेक सौन्दर्य-सिद्धान्तों के समान या तो बहुत छिछले दृष्टिकोण का परिचायक है या बहुत गंभीर दृष्टिकोण का। सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि आप क्रीड़ा की कौन-सी धारणा स्वीकार करते हैं।"[४] यह सच है कि सब कुछ हमारी क्रीड़ा-सम्बन्धी धारणा पर निर्भर है, किन्तु यह शब्द-साहचर्य कुछ ऐसा है कि इसे छोड़ देना ही

अच्छा है। आज यह माना जाने-लगा है कि क्रीड़ा भी आवेगों के संगठन और विकास में सहायक है।

मनुष्य में दो अनिवार्य पाशविक प्रवृत्तियाँ होती हैं—एक बुभुक्षा की और दूसरी कामेच्छा की किन्तु इन दोनों की तृप्ति से ही वह संतुष्ट नहीं होता। उसके लिए केवल अस्तित्व पर्याप्त नहीं है। इसी अंश में वह पशुओं से बिलकुल भिन्न दीखता है। वह एक विभिन्न प्रकार के अस्तित्व की आवश्यकता का अनुभव करता है और इसलिए वह सांस्कृतिक अवस्था का विकास करता है क्योंकि उसके लिए अस्तित्व का अर्थ सांस्कृतिक अस्तित्व है। सांस्कृतिक अस्तित्व की यह आवश्यकता जैविक दृष्टि से उसके लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी बुभुक्षा और कामेच्छा की संतुष्टि। फ्रायड और उसके अनुयायी जो भी कहें, मनुष्य आनन्द-सिद्धान्त का दास नहीं है। मनुष्य उत्कृष्टतर और भव्यतर अस्तित्व की कल्पना कर सकता है और उसके लिए प्रयास कर सकता है जिसमें मानवीय प्रकृति का सातत्य और विकास संभव हो। उसकी इस संतुष्टि को अस्वीकृत करना उसे पशुओं की स्थिति में पहुँचा देना है। संस्कृति के बिना वह रह तो सकता है किन्तु वह रहना मनुष्य के रूप में नहीं होगा; वह फिर पशुओं की स्थिति में पहुँच जाएगा जिससे बहुत प्रयास के बाद वह बाहर निकल सका है। मनुष्य की दृष्टि में जीवन का मूल्य केवल जीवन के लिए नहीं है बल्कि उसके अंतर्निहित वैशिष्ट्य के लिए है। जीवन की सम्पन्नता और पूर्णता ही जीवन को मूल्यवान् बनाती है और यह सम्पन्नता और पूर्णता संस्कृति के द्वारा संभव होती है। कला को बिना किसी अतिरंजना के हम संस्कृति की परम उपलब्धि मान सकते हैं और वही इस सम्पन्नता और पूर्णता का सर्वश्रेष्ठ साधन है। कला के बिना जीवन शून्य और विडंबना बन जाएगा जिसमें कोलाहल चाहे जो भी हो, सार्थकता कुछ भी नहीं होगी। कहने का अभिप्राय यह कि जीवन जीवन नहीं रह जाएगा।

क्रीड़ा-सिद्धान्त से काम नहीं चलने का। रिचर्ड्स का कहना है कि "क्रीड़ा-सिद्धान्त में आपत्ति इस व्यंजना को लेकर है कि कलात्मक अनुभूतियाँ किसी-न-किसी रूप में अपूर्ण होती हैं। वे यथार्थ वस्तुओं की या तो अपर्याप्त नकल होती हैं या उनकी स्थानापन्न। वे उनके लिए ठीक हैं जो उनसे अधिक प्राप्त करने में असमर्थ हैं।"[५] इसका अर्थ यही हुआ कि वे निरर्थक हैं। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि कला न तो उदात्तीकरण है और न सुरक्षा-

वाल्व। यों सुरक्षा-वाल्व-सिद्धान्त के अनेक पक्षधर हैं जिनका कहना है कि हमारी कामुकता तो समाप्त हो गयी किन्तु उसका स्थान कला ने ले लिया।[६] यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि कला जैविक दृष्टि से निरर्थक व्यापार नहीं है। जैसा रिचर्ड्स ने कहा है, कला की अनुभूतियाँ अपूर्ण नहीं हैं। "कलाओं से जो अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं वे अन्यत्र अप्राप्य हैं या दुष्प्राप्य। काश, वे प्राप्य होतीं! वे अपूर्ण नहीं हैं। अच्छा तो यह कहना होगा कि वे सामान्य अनुभूतियाँ हैं जो पूर्ण बन गयी हैं। वे ऐसी नहीं हैं कि कोई सर्वथा पूर्ण व्यक्ति भी उनका निराकरण कर घाटे का अनुभव नहीं करे; और यह घाटा भी क्षणिक नहीं होता, बल्कि आवर्त्तक (रेकरेण्ट) और स्थायी होता है। वस्तुतः जो सबसे पूर्ण हैं वे ही इन अनुभूतियों का सबसे अधिक मूल्य मानते हैं। जैसा निष्कर्ष के रूप में कभी-कभी मान लिया जाता है, कला ऐसी वस्तु भी नहीं है जिसका उपयोग पहले तो था किन्तु विज्ञान के विकास के साथ पुराना पड़ गया है। कला का ह्रास संभव है, वह किसी दिन लुप्त भी हो जा सकती है किन्तु यदि ऐसा होगा तो वह सबसे बड़ी जैविक विपत्ति होगी।"[७]

इस तरह स्पष्ट है कि फालतू या आलंकारिक व्यापार होने के बदले कला सबसे उपयोगी और मूल्यवान् वस्तु है। वह मानव-सभ्यता की रक्षा और पूर्णता के लिए अनिवार्य है। कलाकार फालतू काम में लगा हुआ फालतू आदमी न होकर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में है जो सर्वाधिक मूल्यवान् व्यापारों में लगे हैं। एक तरह से उसका कार्य जमीन जोतने या मकान बनाने से कहीं अधिक उपयोगी है और वह मनस्तापी या उससे मिलता-जुलता जीव नहीं है। वह मूलतः स्वस्थ और संयत सामान्य व्यक्ति है। कलाकार के सामान्य (नॉर्मल) होने का अर्थ यह नहीं कि वह औसत (ऐवरेज) है। जैसा रिचर्ड्स ने लिखा है, "सामान्य होने का अर्थ परिनिष्ठित होना है, न कि औसत होना। कलाकार औसत से भिन्न दीखता है किन्तु ऐसा तो दूसरे लोग भी होते हैं। उसकी भिन्नता ही उन कारणों में अन्यतम है जिससे उसके कार्य पर हमें ध्यान देना चाहिए।"[८]

तात्पर्य कि कलाकार सामान्य तो होता है किन्तु औसत नहीं। औसत मनुष्य औसत इसलिए है कि उसमें वैसी अनुभूतियाँ नहीं उत्पन्न होतीं जो उसके वैयक्तिक मूल्य से बढ़कर हों। कलाकार सामान्य होते हुए भी विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होता है और जैसा रिचर्ड्स ने कहा है, वह अपने

युग की उच्चतम मनीषा का प्रतिनिधित्व करता है। अथवा हम वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध परिभाषा ले लें। वह कहता है—"कवि ऐसा मनुष्य है जो मनुष्यों से बात करता है। वस्तुतः वह कहीं अधिक सजीव संवेदनशीलता, कल्पना और कोमलता से सम्पन्न होता है; उसे दूसरों की अपेक्षा मानव-प्रकृति की अधिक जानकारी रहती है; दूसरे मनुष्यों की तुलना में उसका हृदय विशाल होता है; वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं से संतुष्ट तथा अपने जीवन की उमंग में मस्त रहता है; वह विश्व के व्यापारों में अभिव्यक्त अपनी ही जैसी भावनाओं और इच्छाओं का चिन्तन करता है और जहाँ उन्हें नहीं पाता, वहाँ उनकी सृष्टि के लिए स्वभाव से प्रेरित होता है।"[१]

भाषा में प्राचीनता का आभास हो सकता है, किन्तु वर्ड्सवर्थ ने ध्यातव्य बातों की ओर इंगित किया है। कवि सामान्य मनुष्य है, मनस्तापी नहीं। वह न तो अर्द्धमानव है और न किसी दूसरी योनि का जीव। कवि सामान्य मनुष्य होते हुए भी उन विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न होता है जो औसत आदमी में नहीं दिखाई देतीं। औसत मनुष्य और कवि के बीच जो साम्य या वैषम्य है उससे रिचर्ड्स के समान वर्ड्सवर्थ भी परिचित है। साधारण मनुष्य की अपेक्षा कवि का संघटन अधिक सजीव और संश्लिष्ट होता है। किसी भी स्थिति में उसकी अनुक्रिया अधिक संवेदनशील और गंभीर होती है। वह उस सार्थकता को देखने में समर्थ होता है जो साधारण दृष्टि से ओझल रहती है। संक्षेप में यों कहें कि वह अधिक दूरी तक और अधिक गहराई से देख सकता है और उसकी अनुभूतियाँ औसत अनुभूतियों से विविधता, विस्तार, गहराई और मूल्य में भी भिन्न होती हैं। उसका सूक्ष्म, संवेदनशील और संश्लिष्ट संघटन समृद्धतर, पूर्णतर और स्वाधीनतर अस्तित्व को उसके लिए सम्भव बनाता है। वह 'सहजता में पूर्णता' के आदर्श के लिए प्रयास करता है और उसे ही प्राप्त करता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रश्न महत्त्वशून्य है कि कवि में यह विशिष्ट क्षमता कहाँ से आती है। निश्चय के साथ हम इतना ही कह सकते हैं, और जो स्पष्ट है, कि उसकी क्षमताएँ मनस्ताप का परिणाम नहीं हैं। उसे मनस्तापी और समाज का निरुपयोगी सदस्य कहने के बदले हम हिर्श की प्रशंसा के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि "प्रतिभाशाली कवि प्रतिभा का सूक्ष्मतम निदर्शन है जो मानव-जाति को प्रेरित और निर्देशित करता है। ऐसा करते समय वह केवल उसके अतीत को आलोकित या उसके आध्यात्मिक सम्बन्धों

को पुनरुज्जीवित ही नहीं करता, बल्कि सार्थक भविष्य को भी सूचित करता है जिसमें धुँधले आदर्शों का संकेत और पूर्वाभास छिपा रहता है। प्रतिभाशाली अपने विशिष्ट क्षेत्र या क्षेत्रों का ही केवल रक्षक नहीं होता, बल्कि वह एक प्रकार का देवदूत होता है जो शुभ समाचारों का उद्घोषक और स्वर्णिम भविष्य का अग्रदूत होता है।"[१०]

हम इस आनन्दातिरेक को, जो शेली की याद दिलाता है, भले ही नापसन्द करें किन्तु यह प्रशंसा वस्तुतः अतिरंजित नहीं है और मनस्ताप, उन्माद, दमन, ग्रन्थि, उदात्तीकरण, क्षतिपूर्ति जैसी मनोविश्लेषण की पारिभाषिक शब्दावली से हटकर हमारे भीतर ताज़गी जरूर पैदा करती है। कलाकार मनस्ताप का शिकार हो सकता है लेकिन यह केवल आकस्मिक बात होगी, जैसे उसका पंगु रूप में उत्पन्न होना। किन्तु मनस्ताप से उसके कलाकार होने की व्याख्या नहीं की जा सकती। कलाकार अन्ततः हमारे ही जैसा मनुष्य है और वह उन दोषों का शिकार भी हो सकता है जो हाड़-मांस के मनुष्य के लिए संभव हैं। वह क्षुद्र, नीच, घमंडी या दुष्ट भी हो सकता है किन्तु जब वह कला-सृष्टि में लीन होता है तो इन वैयक्तिक तत्त्वों से ऊपर उठ जाता है और उसके सामने जो वस्तुएँ तथा सुन्दर कला के जो सिद्धान्त या पद्धतियाँ होती हैं केवल उन्हीं पर वह अपने को केन्द्रित रखता है। उसकी सफलता इस संकेन्द्रण पर ही निर्भर करती है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि कलाकार भी आखिर मनुष्य ही है, कि उसके वैयक्तिक तत्त्व काफी दुर्दम हो जाएँ और वे उसकी कलाकृति में भी उभर आएँ किन्तु वे उदाहरण केवल इतना ही सिद्ध कर सकते हैं कि कलाकार संकेन्द्रण में असफल रहा है; या यह भी संभव है कि कभी वह जानबूझकर किसी कला-कृति को वैसे आवेगों की संतुष्टि का माध्यम बनाए जो बहुत श्लाघनीय नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जो परिणाम होगा वह कलात्मक दृष्टि से असंतोषप्रद होगा। मनस्तापी तत्त्व की वर्त्तमानता (कलाकार इससे परिचित हो या न हो) दोष के रूप में ही उसकी कृति में दिखाई दे सकती है। इसे हम दोष ही मानेंगे और असफलता के लिए कलाकार की निन्दा भी करेंगे। कलाकार यदि किसी प्रकार के मनस्ताप से ग्रस्त है तो उसका संकेत कर उसके सम्बन्ध में हम कोई महत्त्व की बात नहीं कह पाएँगे।

अपने रिपब्लिक में प्लेटो ने कवि को भले ही स्थान न दिया हो, किन्तु

जिस सामाजिक संघटन से कवि सम्बद्ध है उसके अत्यन्त उपयोगी सदस्य के रूप में उसका महत्त्व निर्विवाद है। उसका महत्त्व इसलिए है कि उससे हमें ऐसी अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं जो उसके बिना नहीं प्राप्त हो सकतीं। ये अनुभूतियाँ हमारे जीवन को जैसा समृद्ध बनाती हैं वैसा कोई दूसरी चीज नहीं बना सकती। वह मूल्य का स्रोत है और इन मूल्यों को अपनी कला में समाहित करता है। जैसा रिचर्ड्स ने लिखा है—"कलाएँ हमारे लिखित मूल्यों का भंडार हैं। वे आपवादिक व्यक्तियों के जीवन के ऐसे क्षणों से उद्भूत होती हैं और उन्हें चिरंतनता प्रदान करती हैं जब अनुभूतियों पर उनका नियंत्रण और निर्देशन उच्चतम बिन्दु पर होता है। ये क्षण ऐसे होते हैं जब अस्तित्व की विभिन्न सम्भावनाएँ पूर्ण स्पष्टता से दिखाई देती हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले विभिन्न व्यापार बड़ी रमणीयता से समन्वित होते हैं, जब स्वार्थों की नैसर्गिक संकीर्णता और अस्तव्यस्तता का स्थान शान्ति ले लेती है। बात कला की उत्पत्ति के क्षण की हो अथवा संप्रेषण के माध्यम की, दोनों में ऐसे कारण ढूँढ़े जा सकते हैं जो मूल्य-सिद्धान्तों में कलाओं को अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान दिला सकें। वे अनुभूतिविषयक उपलब्ध मल्यों के सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णयों को अंकित करते हैं।"[११]

तो कलाकार मूल्यवान् अनुभूतियों को हमारे लिए कला में सन्निविष्ट करता है। किन्तु वह उन अनुभूतियों को अभिव्यक्त या संप्रेषित कैसे करता है? उसे स्वभावतः ऐसे साधन को ढूँढ़ निकालना होता है जिसके द्वारा सफल संप्रेषण संभव हो सके। जिस रूप में कलाकार रचना करता है, अर्थात् उसका शिल्प, उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी स्वयं अनुभूतियाँ। अनुभूतियों का मूल्यवान् होना ही पर्याप्त नहीं है; वह उन्हें कलाकृति में रूपायित करने का प्रयास करता है और अपनी सारी शक्ति को इस कार्य में केन्द्रित कर डालता है। "जिस अनुभूति पर कवि की कृति का मूल्य निर्भर करता है उसे अपनी कृति द्वारा रूपायित, समन्वित और अभिव्यक्त करना उसका प्रमुख व्यापार है जो कठिन परिस्थितियों में कष्टकर व्यापार बन जाता है।"[१२] यह ऐसी चीज नहीं जो हलके-फुलके ढंग से कर ली जाए; अपने कार्य को सम्यक् निष्पन्न करने के लिए कलाकार को उसपर अभिनिवेशपूर्वक ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। कलाकार के शिल्प की समस्या वह चीज है जिससे पाला पड़ने पर मनोविश्लेषक बिलकुल विवशता का अनुभव करने

लगता है और इसी स्थल पर आलोचना की विजय दिखाई पड़ती है। फ्रायड इस बात को स्वीकार करता है कि मनोविश्लेषण कलाकार के शिल्प के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बता सकता परन्तु आलोचना बता सकती है कि वांछित परिणाम किस तरह प्राप्त हुए हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा। कीट्स की 'चतुर्दशपदी' 'ऑन फर्स्ट लुकिंग इनटू चैपमैन्स होमर' को और इसपर मिड्लटन मरे के विश्लेषण को ले लें। वह कविता हमारे ऊपर क्या प्रभाव उत्पन्न करती है इसका संक्षिप्त वर्णन करते हुए मिड्लटन मरे अपना विश्लेषण आरम्भ करता है—"हमपर उत्तेजना का इतना तीव्र प्रभाव पड़ता है कि उसमें कविता का घोषित और वास्तविक विषय मानो विलीन हो जाता है। उसमें भाव का प्रत्यक्ष संप्रेषण होता है जो क्रमशः तीव्रतर होता जाता है जो कोर्टेज़ के अर्द्ध-दृश्य, अर्द्ध-अमूर्त्त अन्तिम चित्र में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच जाता है। कविता का बिम्ब उसकी भावात्मक शक्ति द्वारा न केवल हमारे मन पर अंकित हो जाता है, बल्कि वह समाहित होकर संसक्त होता हुआ कविता के भावात्मक पक्ष को मूर्त्त बना देता है। 'शिखर पर कोर्टेज़'—चतुर्दशपदी का यह पूर्ण एवं चरम उत्कर्ष है।"[१३]

इस अद्भुत वर्णन को प्रस्तुत करने के बाद वह सर्वथा तटस्थ भाव से चतुर्दशपदी का विश्लेषण करता है—"हम देखते हैं कि आरम्भ से अन्त तक समन्वेषण और अनुसंधान की बिम्बावली कायम रखी गयी है। पहली पंक्ति से ही यात्री के रूप में, अनुसंधाता के रूप में द्वीपों का भ्रमण करते हुए, स्वर्णभूमि का अनुसंधान करते हुए कवि हमारे सामने आता है। अपनी यात्रा के क्रम में वह अविरत विशाल स्वर्णभूमि की अफवाहें और सूचनाएँ सुनता जाता है। 'विजेताओं' का शब्द बड़ा ही सहायक है। चैपमैन के होमर की प्राप्ति के प्रसंग में कीट्स मन ही मन अपने को भी विजेता ही मानता है।

षट्क (सेस्टेट) की पहली दो पंक्तियों में बिम्ब-विधान किंचित् परिवर्तित है। वह पृथ्वी का नहीं, बल्कि आकाश का अनुसंधाता बन जाता है—एक प्रकार से ज्योतिर्विद्, जिसने एक नये ग्रह का आविष्कार कर लिया है। यह परिवर्त्तन कविता को निर्बल बनाने के बदले उसे और भी समृद्ध और सबल बनाता है; वह उसके कल्पनाविषयक क्षेत्र को अपरिमित विस्तार प्रदान करता है। असीम पृथ्वी के साथ निस्सीम आकाश का योग हो जाता है और 'तैरता है' इस शब्द के अद्भुत प्रयोग के द्वारा स्वर्गीय शान्ति,

निस्तब्ध अन्तरिक्ष की पृष्ठभूमि का प्रभाव उत्पन्न होता है जिसके समक्ष 'शिखर पर कोर्टेज़' की मूर्त्ति दिव्य एवं विराट् रूप में उपस्थित होती है।

यहाँ बिम्ब और भाव का समन्वय ध्यातव्य है—अष्टक (ऑक्टेव्ह) में उत्सुक समन्वेषण का बिम्ब एवं भाव; षट्क में उच्छ्वसित आविष्कार का बिम्ब एवं भाव। बिम्ब की लय भाव की लय के बिलकुल अनुरूप है या यों कहें कि उससे भिन्न है, जिसकी सूक्ष्मता वस्तुतः प्रशंसनीय है। पेट्रार्कन चतुर्दशपदी की क्षमता जिस उत्कर्ष पर यहाँ पहुँची है वैसा शायद ही अन्यत्र दिखाई दे। अष्टक और षट्क दोनों का अपना पृथक् आरोह है। दोनों खंडों में पूरी चतुर्दशपदी के बिम्ब एवं भाव की लय की आवृत्ति हुई है। पहले खंड में उत्सुक प्रतीक्षा का मौन एवं निःशक्त अनुमान बड़ी विदग्धता से इस पंक्ति के द्वारा भंग होता है—

'टिल आइ हर्ड चैपमैन स्पीक आउट लाउड एण्ड बोल्ड;'

दूसरे खण्ड में यद्यपि वास्तविक प्रभाव की आवृत्ति असंभव है, क्योंकि चैपमैन के होमर का आविष्कार हो गया है और वह आविष्कार लुप्त नहीं हो सकता, फिर भी उसका तुलनात्मक रूप आन्तःप्रज्ञ प्रतिभा की उत्कर्ष-रेखा द्वारा तथा काल्पनिक समानान्तरवाद द्वारा सीमित हो गया है। पहले अनन्त देश में मौन की व्यंजना होती है और उस मौन के समक्ष कोर्टेज़ का पूर्ण मौन वज्रनिर्घोष जैसा ध्वनित होता है।"[१४]

यह विश्लेषण सामरस्य की उस जटिल संरचना को बड़ी खूबी से व्यक्त करता है जो ऐसा अपूर्व और अद्भुत प्रभाव हमारे ऊपर डालता है। मिड्लटन मरे पहले तो उत्पन्न होनेवाले प्रभाव का वर्णन करता है और उसके बाद उन साधनों का, जिनके द्वारा कीट्स उस प्रभाव को उत्पन्न करता है। यहाँ के भाव में तीव्र उत्तेजना है और वह उत्तेजना कवि द्वारा किये गये आविष्कार से उत्पन्न होती है। इसलिए प्रयुक्त बिम्ब-विधान समन्वेषण और आविष्कार का है और वह लय के साथ मिलकर उस तीव्र उत्तेजना को व्यक्त करने में सर्वथा समर्थ होता है। चैपमैन के होमर को पढ़ने के बाद कीट्स के हृदय में जो अनुभूति हुई थी उसे कविता में रूपायित, समन्वित करने के व्यापार पर कवि ने अपना ध्यान पूर्णतः केन्द्रित किया है और चूँकि वह ऐसा ठीक से कर सकता है, इसलिए पाठक तक अनुभूति का संप्रेषण भी सफलतापूर्वक हो जाता है, कारण कि साधारणतः किसी रचना का

संप्रेषणात्मक प्रभाव कलाकार की अपनी संतुष्टि और औचित्यबोध के अनुरूप ही हुआ करता है। यह उसकी सामान्यता (नॉरमेलिटी) के कारण होता है। कहा जा चुका है कि कला अनिवार्यतः अभिव्यंजना का प्रकार है और अभिव्यंजना संप्रेषण है।

कलाकार का शिल्प वह साधन है जिसके द्वारा उसकी रचना और उसकी अनुभूति में पूर्ण ऐकरूप्य स्थापित होता है। किन्तु प्रश्न है कि अनुभूति और शिल्प के ऐकरूप्य से पाठक क्यों द्रवित हो? हमने कहा है कि कलाकार सामान्य (नॉर्मल) व्यक्ति होता है। अतः उसकी अनुभूतियाँ भी सामान्य होती हैं। वे हमारी अनुभूतियों से केवल मूल्य में भिन्न होती हैं, प्रकार में नहीं। उसके आवेग हमारे आवेगों के समान ही होते हैं और यह मौलिक साम्य ही संप्रेषण को सुगम बनाता है; साथ ही वह किसी कलाकृति से प्राप्त होनेवाले आनन्द के मूल में भी काम करता है। यह कई बार प्रतिपादित किया जा चुका है कि मनुष्य केवल अपने अस्तित्व से संतुष्ट नहीं होता। वह जीवन की समृद्धता और पूर्णता का आदर करता है और उसने यह भी देखा है कि कलाएँ उस समृद्धता और पूर्णता को संभव बनाती हैं। हम अपनी अपूर्ण इच्छाओं की संतुष्टि के लिए कलाओं की आराधना नहीं करते, बल्कि पूर्णतर जीवन और आध्यात्मिक पूर्णता की खोज के लिए उनकी आराधना करते हैं, और शिल्प का महत्त्व इसलिए है कि शिल्प की सफलता पर ही कलाकार की अनुभूतियों से हमारा सफल तादात्म्य तथा आध्यात्मिक पूर्णता के लिए हमारी इच्छा की संतुष्टि निर्भर करती है।

---

१. द मीनिंग ऑफ़ आर्ट।
२. पोइट्री एण्ड क्राइसिस।
३. सेक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसाइटी।
४. द प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म।
५. वही।
६. हैवलॉक एलिस।
७. द प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म।

८. वही।

९. प्रीफेस टु द लिरिकल बैलेड्स।

१०. जीनियस एण्ड क्रियेटिव इण्टेलिजेन्स।

११. द प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म।

१२. वही।

१३. स्टडीज़ इन कीटस।

१४. वही।

◆ ◆ ◆

८

कलाकार और अचेतन

फ्रायड लिखता है— "आपको भ्रम है कि आपको मानसिक स्वतंत्रता है और इस भ्रम से आप मुक्त होना नहीं चाहते। मुझे खेद है कि इस विषय पर आपके दृष्टिकोण से मेरा तीव्र विरोध है।"[१] फ्रायडीय सम्प्रदाय स्वतंत्रता को अस्वीकृत करता है और उसका दावा है कि उसने मानसिक नियतत्ववाद को विश्वसनीय ढंग से प्रमाणित कर दिया है। वस्तुतः मनोविश्लेषण ने जो करने का प्रयास किया है वह है असफल व्यापारों, स्वप्नों और मनस्तापी लक्षणों का निरूपण। किसी मनस्तापी की चेष्टाएँ उसकी विशिष्ट ग्रन्थियों से निर्धारित होती हैं। इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि सामान्य व्यक्ति को क्रिया की स्वतंत्रता नहीं है। फ्रायड स्वयं स्वीकार करता है कि मनोविश्लेषण के परिणामों से मानसिक नियतत्ववाद को प्रायोगिक रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। फ्रायड ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सहज नैतिकता जैसी कोई चीज नहीं होती किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हममें भले-बुरे के विवेक की मौलिक और नैसर्गिक शक्ति भी नहीं होती। इस शक्ति के अस्तित्व का खण्डन तर्कशक्ति का खण्डन करना है। डैलबीज़ लिखता है—"इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि चूँकि मनुष्य बुद्धि का उपयोग करता है इसलिए वह यह देखने में समर्थ है कि आचरण के दो रूपों के भिन्न मूल्य होते हैं। हम एक सीधा-सा उदाहरण लें। अपनी आँख फोड़ने के बदले आँख नहीं फोड़ना हमें अधिक अभिमत है। इसे समझने के लिए साधारण बुद्धि पर्याप्त है और इसी साधारण बुद्धि के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि हमें अपनी आँख फोड़ने या न फोड़ने की स्वतंत्रता है।"[२] तात्पर्य कि हम अपने अचेतन के निस्सहाय शिकार नहीं हैं। मनोविश्लेषक कहेंगे कि सभी मनुष्य मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद के अधीन हैं और इस नियतत्ववाद के उद्देश्य अचेतन में छिपे पड़े हैं। जैसा रिचर्ड मार्च ने लिखा है, "यदि ऐसा होता तो सभी मूल्यों और सभी निर्णयों को मनोवैज्ञानिक नियतत्ववादियों के पास भेज देना पड़ता।

और इन नियतत्ववादियों की दिशा, उद्देश्य, प्रयोजन (यदि अचेतन के सन्दर्भ में प्रयोजन की बात कहना संभव हो) अज्ञात हैं और अज्ञेय भी हैं।"[3] इस प्रकार हम गतिरोध की स्थिति में आ जाते हैं। मनुष्य अपनी क्रियाओं के लिए उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करना जीवन को निरर्थक बना देना है। मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद मनोविश्लेषणात्मक कल्पना है; वह मानवीय बुद्धि का स्पष्ट निषेध और हमारी अनुभूति का विरोध भी है।

सामान्य मानवीय उत्तरदायित्व का प्रश्न कलाकार के उत्तरदायित्व के साथ जुड़ा हुआ है जिससे हमारा तात्कालिक सम्बन्ध है। मनोविश्लेषकों के अनुसार यह मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद कलाकार का भी नियमन करता है। यह मनुष्य के रूप में उसकी क्रियाओं का तथा कलाकार के रूप में उसके उद्देश्यों का भी नियमन करता है। कलाकार को किसी वस्तु के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि उसके मन में कौन-सी शक्ति काम कर रही है, इससे वह सर्वथा अनभिज्ञ है। बुद्धि से वह जानता है कि वह कहाँ जा रहा है, किन्तु भावात्मक दृष्टि से उसे इसका कोई आभास नहीं कि किसी दूसरी दिशा में न जाकर किसी खास दिशा में ही वह क्यों जा रहा है, अथवा उसके मन में क्या है, जो किसी खास रूप में आचरण करने को उसे बाध्य कर रहा है। वह इसे जान भी नहीं सकता, क्योंकि उसकी बाध्यता अचेतन की गहराई में छिपी है जो उसके लिए हमेशा ही अप्रवेश्य क्षेत्र रहेगा। जब वह रचना में या अपने दैनिक जीवन के कार्यों में लगा होता है तब वह गुप्त अचेतन उद्देश्य ही उसके विचार और संवेदन को निर्धारित करता है। इस तर्क के अनुसार मनोविश्लेषक यह स्वीकार करने को बाध्य हो जाता है कि कलाकार अपनी रचना के लिए नैतिक रूप में उत्तरदायी नहीं है और वह किसी अभिवृत्ति को अपनाने में सर्वथा पराधीन है।[4]

कलाकार की उत्तरदायित्वहीनता का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। कलाकार सर्वोच्च मनीषा का प्रतिनिधि होता है और इसलिए सर्वोच्च रूप से उत्तरदायी भी। मनुष्य की प्रकृति में पूर्णता की ओर बढ़ने का आवेग है, इसे फ्रायड नहीं मानता। "मनुष्य में पूर्णता की ओर बढ़ने का आवेग है, इस विश्वास को हममें से बहुत सारे लोग नहीं छोड़ पाएँगे। वे यह मानते हैं कि उसी के द्वारा मनुष्य बौद्धिक शक्ति और नैतिक औदात्त्य

की वर्त्तमान ऊँचाई पर पहुँचा है। किन्तु मैं किसी ऐसे आवेग के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता और न इस सुखद भ्रम को कायम रखने का कोई कारण देखता हूँ।"[५] पूर्णता की ओर ले जानेवाले आवेग का अस्तित्व सुखद भ्रम नहीं है। वह सुखद अवश्य है, किन्तु भ्रम नहीं है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि मनुष्य को सांस्कृतिक अवस्था की आवश्यकता का अनुभव होता है जो हमारी पूर्णता की इच्छा का मूर्त्त रूप है। सांस्कृतिक अवस्था में कला का केन्द्रीय स्थान है और वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्य में पूर्णता की ओर बढ़ने का आवेग वर्त्तमान है। किसी युग या देश की अच्छी कला में यह प्रमुख विशेषता रहती है। कलाकार अपनी वस्तु को अपूर्णता से पूर्णता की स्थिति में ढालने का संघर्ष करता है, यह भी इसका स्पष्ट प्रमाण है।[६] साथ ही, मनुष्य की प्रकृति में पूर्णता की ओर बढ़ने का आवेग वर्त्तमान है, इसका भी यह स्पष्ट प्रमाण है।

ए० डब्ल्यू० रैम्ज़ का कहना है कि "कविता की प्रेरणा रम्यकल्पना से अथवा अचेतन के क्षेत्र से आती है। कोई महान् कविता तब तक नहीं लिखी जा सकती जब तक कवि के जीवन की प्रेरक शक्तियों में से कुछ, अथवा कम-से-कम एक, अचेतन न हो। अचेतन शक्ति का निर्गम (आउटलेट) आवश्यक है और कुछ व्यक्तियों में वह निर्गम कविता के द्वारा निष्पन्न होता है। अधिकतर कविताएँ वैयक्तिक अचेतन से उत्पन्न होती हैं, किन्तु महाकाव्य जातीय अचेतन से उत्पन्न होता है और उसकी उत्पत्ति के लिए घनिष्ठ जातीय एकता की स्थिति आवश्यक होती है। अकेला व्यक्ति महाकाव्य नहीं लिख सकता। मैं होमर-विषयक संयुक्त लेखकत्व की बात नहीं कहता। जातीय अचेतन किसी एक व्यक्ति के द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है, किन्तु है वह जातीय संवेदन ही, कलाकार की वैयक्तिकता नहीं। आधुनिक युग का अन्तिम महाकाव्य 'पैरडाइज़ लॉस्ट' इसी श्रेणी में आता है। वह उस सामूहिक धर्म-भावना की अभिव्यक्ति है जो उस समय इंगलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के राष्ट्रीय जीवन को आलोड़ित कर रही थी।"[७]

कला-सृष्टि में अचेतन और सामूहिक अचेतन का क्या योगदान है, इसका हम सरल रूप में यहाँ निर्देश पाते हैं। अब हम यह देखने का प्रयास करें कि अचेतन और तथाकथित सामूहिक अचेतन का कला-सृष्टि में क्या योगदान होता है। मनोविश्लेषकों की आदत है कि वे अपने सिद्धान्त के समर्थन के

लिए कलाकारों की ही उक्तियाँ उद्धृत करते हैं जो अपने उनुत्तरदायी क्षणों में ऐसी बातें कह गये और जिनसे ऐसा लक्षित होता है कि कोई रहस्यात्मक अभिकरण उनका काम कर दिया करता है। उदाहरणार्थ, सिरिल बर्ट ने कुछ ऐसी उक्तियों को संगृहीत किया है:[८]

स्टीवेन्सन: "मेरा वास्तविक कार्य किसी अदृश्य सहयोगी के द्वारा किया जाता है जिसे मैं अटारी पर बन्द किये रहता हूँ। ये सहयोगी मेरे मस्तिष्क के छोटे जीव होते हैं, जो, जब मैं सोया होता हूँ तो मेरा आधा काम कर डालते हैं और जब जगा होता हूँ तो बाकी आधा, और मैं मुग्ध भाव से सोच लेता हूँ कि यह सब मैंने ही किया है। अपनी बात कहूँ तो जिसे मैं 'मैं' कहता हूँ (मेरा चेतन अहंकार) अर्थात् वह व्यक्ति जो हैट और जूते पहनता है, जो ईमानदार है और जिसकी बैंकराशि क्रमशः लुप्त होती जा रही है, वस्तुतः कलाकार नहीं है बल्कि वह तो किसी दूकानदार के जैसा ठोस धरती का जीव है।"

जॉर्ज इलियट : जॉर्ज इलियट ने कहा था कि जब वह 'ऐडम बेड' लिख रही थी तो उसे ऐसा मालूम हो रहा था जैसे किसी दूसरे ने उसकी कलम पकड़ ली हो और उसे चलाना शुरू कर दिया हो।

हाउसमैन : "मैं समझता हूँ कि कविता लिखना सक्रिय से अधिक निष्क्रिय, अनैच्छिक व्यापार है। दोपहर के भोजन के समय एक बोतल बीयर पीकर—बीयर दिमाग को शान्त रखता है, और मेरे अपराह्ण मेरे जीवन के सबसे कम बौद्धिक भाग हैं—मैं टहलने चला जाता हूँ। जब चलते समय मैं किसी खास चीज के बारे में कुछ नहीं सोचता तो उस समय मेरे मन में आकस्मिक और अकारण संवेग से किसी कविता की एक या दो पंक्तियाँ, कभी-कभी पूरा छन्द भी प्रवाहित होता हुआ आ जाता है, जिनमें पूरी कविता का धूमिल अस्तित्व वर्त्तमान रहता है। फिर थोड़ी देर के लिए शान्ति छा जाती है। बाद में वह स्रोत फिर फूटता है। मैं फूटने की बात इसलिए कहता हूँ कि उन व्यंजनाओं का स्रोत मस्तिष्क के किसी गह्वर में छिपा रहता है।"

ऐसे उदाहरणों की संख्या आसानी से बढ़ायी जा सकती है। कहते हैं कि ब्लेक ने अपने सर्वश्रेष्ठ चित्रों को गहरी नींद की स्थिति में चित्रित किया था और गेटे ने अपना सर्वोत्तम उपन्यास स्वप्निल अचेतनता की स्थिति में

लिखा था जिसकी तुलना उसने निद्राचारी से की है। कोलरिज ने भी सम्पूर्ण 'कुबला खाँ' को स्वप्न में ही देखा था। इस तथाकथित साक्ष्य पर विचार करने के पहले अच्छा होगा कि हम एक दूसरे प्रकार के साक्ष्य को भी इसके पास रखकर देखें। इलियट के निबन्धों से एक सन्दर्भ हम यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं। यह कहने की शायद आवश्यकता नहीं कि इलियट केवल कलाकार नहीं है, वह आलोचक भी है अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति है जिसने कलासृष्टि की समस्या के सम्बन्ध में सावधानी से सोचा है। सन्दर्भ नीचे उद्धृत है जो बड़ा तो है, किन्तु सम्पूर्णतः उद्धृत करने योग्य है:

"संभवतः रचना के समय लेखक के श्रम का अधिकांश आलोचनात्मक श्रम हुआ करता है जिसमें चालना, मिलाना, बनाना, काटना, संशोधन करना, जाँचना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह भीषण श्रम जितना संरचनात्मक है उतना ही आलोचनात्मक भी। प्रायः एक प्रवृत्ति देखी जाती है जो कलाकार के इस आलोचनात्मक श्रम को निन्द्य मानती है और यह सिद्धान्त प्रस्तुत करती है कि बड़ा कलाकार अचेतन कलाकार होता है; उसके झंडे पर लिखा होता है कि 'घोलमाठा करो'। हममें से जो भीतर से बधिर-मूक हैं उनकी क्षतिपूर्त्ति उनके विनीत विवेक से हो जाती है जो दैवी विशेषज्ञता के बिना इस बात की राय देता है कि अपनी शक्ति भर निर्दोष लिखने की कोशिश करो और इस प्रकार हमारे काफी समय की बर्बादी का कारण बनता है। हम जानते हैं कि आलोचनात्मक विवेचन हमें तो बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है पर अधिक भाग्यशाली व्यक्तियों में वह रचना-प्रक्रिया के बीच ही उद्भासित होता चलता है। हम यह नहीं मानते कि चूँकि किसी कलाकृति में आलोचनात्मक श्रम दिखायी नहीं पड़ता है, इसलिए उसमें आलोचनात्मक श्रम हुआ ही नहीं है। हमें क्या मालूम कि कलास्रष्टाओं के मस्तिष्क में पहले कितना आलोचनात्मक श्रम हो चुका होता है या सदा होता रहता है?"[१]

यहाँ हमें एक ऐसा साक्ष्य मिलता है जो दूसरे साक्ष्यों का स्पष्ट खण्डन कर देता है और चूँकि यह बात बहुत सोचने-विचारने के बाद कही गयी है इसलिए यह निश्चय ही उन कथनों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है जिन्हें अपेक्षाकृत कम सावधानी से कहा गया है। कलाकार को श्रम ही नहीं, कठोर श्रम करना पड़ता है और उसका सारा भीषण श्रम सचेतन होता है, अचेतन नहीं। कलाकार ऐसी वीणा नहीं जिसपर अचेतन की वायु टकराते ही अमर

संगीत गूंज उठे। वह अचेतन के आदेशों को कार्यान्वित करनेवाला निष्क्रिय व्यक्ति नहीं है। उसकी क्रिया की प्रकृति ऐसी होती है जिसमें सचेतनता और विमर्श दोनों की आवश्यकता होती है और जो निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार सम्पन्न होती है। आवेगों, बिम्बों, साहचर्यों, स्मृतियों, संवेदनों और शब्दों की अव्यवस्था व्यवस्था में परिणत हो जाती है, अरूप वस्तु में सुसंगत रूप आ जाता है और यह सचेतन रूप से ही किया जा सकता है। चालने, मिलाने, बनाने, काटने, संशोधन करने, जाँचने का श्रम कलाकार का सचेतन श्रम होता है और इसके पीछे उसकी यह इच्छा काम करती है कि रचना समीचीन हो। रचना को समीचीन बनाने का विचार सबसे महत्त्वपूर्ण होता है; उतनी देर के लिए दूसरे सभी विचार गौण पड़ जाते हैं। जब कलाकार अपनी रचना पर एकाग्र हो जाता है तो वह शेष सारी बातों को भूल जाता है। गेटे की स्वप्निल अचेतनता अथवा ब्लेक की प्रगाढ़ निद्रा संभवतः एकाग्रता की चरम स्थिति थी, वास्तविक अचेतनता या निद्रा नहीं। यह संभव है कि कुछ कलाकारों में आलोचनात्मक श्रम की दीर्घकालीन आवश्यकता न हो, किन्तु हमें क्या पता कि किसी कलाकृति के पीछे कितना श्रम हो चुका है।

ऐसा लगता है कि मनोविश्लेषक बिलकुल वाच्यार्थ ग्रहण करनेवाले व्यक्ति होते हैं। मैं समझता हूँ कि स्टीवेन्सन, वोल्तेर, जॉर्ज इलियट ने स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि उनके कथनों का ऐसा अर्थ (या अनर्थ) किया जाएगा। स्पष्ट है कि वे लाक्षणिक भाषा में बातें कर रहे थे जिसमें अतिरंजना का भी थोड़ा पुट था। वोल्तेर के इस कथन का कि 'इस पुस्तक को क्या वस्तुतः मैंने लिखा?' यह अर्थ नहीं होता कि उसने वह पुस्तक नहीं लिखी, बल्कि किसी अचेतन शक्ति ने लिख दी। इससे केवल उस संतोष की अभि-व्यक्ति होती है जिसे किसी अच्छी रचना के बाद कलाकार अनुभव करता है। इस संतोष में आश्चर्य का भी थोड़ा अंश मिला रहता है। इसमें आत्मश्लाघा भी निहित रहती है, मानो अपनी पीठ आप ही ठोक कर कोई कहे कि 'मैं कमाल का आदमी हूँ'।

हमें अचेतन को इसलिए स्वीकार करना है कि आनुभविक साक्ष्य के आधार पर मानसिक प्रतिक्रियाओं को उद्घाटित करने में वह अनिवार्य प्राक्कल्पना का काम करता है।[१०] किन्तु 'अचेतन' वैसा बाधक और सर्व-शक्तिमान् स्वेच्छाचारी नहीं है जैसा मनोविश्लेषक उसे बना बैठा है। वह

मिल्टन की अव्यवस्था-भावना के समान भयावह शासक भी नहीं है जो 'चेतन' के लघु और शक्तिहीन राज्य में घुसकर सदा हर तरह के उत्पात मचाने को तत्पर रहता है। वह वैसा क्षुद्र व्यक्ति भी नहीं है जो नेपथ्य के पीछे से कठपुतलियों की डोरी खींच रहा हो और स्वतंत्र, ऐच्छिक गति एवं क्रिया का भ्रम पैदा कर रहा हो जहाँ वस्तुतः कोई स्वतंत्रता है नहीं। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुसार अचेतन की सृष्टि कर लिया करता है। व्यक्ति जिस वस्तु का सम्यक् और सचेतन रूप में उपयोग नहीं कर पाता, उसी से अचेतन का निर्माण होता है। संवेदनों, बिम्बों, भावनाओं, स्थितियों, विचारों से, संक्षेप में कहें तो उन सारी वस्तुओं से जिन्हें देखा-सुना तो गया है पर जिनका पूर्णतः तथा संतोषप्रद रूप में चेतन के द्वारा उपयोग नहीं हो सकता है, वैयक्तिक अचेतन की उत्पत्ति होती है। हम कल्पना करें कि वैसी वस्तुओं की बाढ़ से जिनका सचेतन जीवन के हित में उपयोग नहीं हो सकता, चेतन मानो आप्लावित हो जाता है और इसलिए बाध्य होकर वह उसमें से बहुत सारी वस्तुओं को अचेतन में डाल देता है, जिसकी उपमा हम कबाड़खाने से दे सकते हैं। उनमें से कुछ वस्तुओं की उसे भविष्य में आवश्यकता पड़ सकती है और यदि आवश्यकता वस्तुतः अतिशय और तात्कालिक हुई तो उनका वह उपयोग भी कर सकता है। यह भी संभव है कि उनमें से कुछ कभी प्रकाश में आएँ ही नहीं और सदा के लिए उस कबाड़खाने में पड़ी रह जाएँ। यह भी संभव है कि जिन वस्तुओं को उसने अचेतन में रख छोड़ा है, उनमें कुछ ज्वलनशील प्रकृति की हों और यदि उन्हें सावधानी से नहीं रखा गया हो तो वे छोटे या बड़े पैमाने पर अग्निकांड कर सकती हैं, जिससे बहुत सावधानी से बनाया गया चेतन का दिव्य प्रासाद नष्ट-भ्रष्ट हो जाए, किन्तु वह अग्निकांड चाहे कितना भी गंभीर क्यों न हो (और कभी-कभी वह काफी गंभीर हो सकता है), यह प्रमाणित नहीं करता कि कबाड़खाना शेष भवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मैं नहीं चाहता कि कबाड़खाने की उपमा अक्षरशः ग्रहण की जाए। मैं सिर्फ यह बताना चाहता हूँ कि व्यक्ति की चेतना द्वारा अप्रयुक्त सामग्री ही उसके अचेतन का निर्माण करती है। किन्तु जिसे फ्रायड 'पूर्वचेतन' कहता है उसके लिए कबाड़खाना समीचीन बिम्ब प्रतीत होता है। "हमारा अचेतन दो प्रकार का होता है—एक तो वह जो निष्क्रिय है, किन्तु उसमें चेतन

बनने की क्षमता है और दूसरा वह जो दमित है और साधारण रूप में चेतन बनने में असमर्थ है। जो निष्क्रिय है, और गत्यात्मक अर्थ में नहीं बल्कि वर्णनात्मक अर्थ में ही अचेतन है, उसे हम 'पूर्वचेतन' कहते हैं। 'अवचेतन' शब्द का प्रयोग हम उसके लिए करना चाहते हैं जो गत्यात्मक रूप से अचेतन है अर्थात् दमित है।"[११] कलाकार का सम्बन्ध 'पूर्वचेतन' से है, जो उन विचारों और बिम्बों का भंडार है जिनमें उसकी पहले-पहल अभिरुचि हुई होगी, किन्तु तत्काल वह उनका उपयोग नहीं कर सका। जब वह किसी प्रबल आवेग से प्रेरित होता है तो ये सुरक्षित विचार और बिम्ब अपने तमश्छन्न स्थान से बाहर निकल आते हैं और चेतन द्वारा उपयोग के योग्य बन जाते हैं। इनमें से सभी विचार या बिम्ब बाहर नहीं आते बल्कि वे ही, जो किसी रागात्मक सम्बन्ध से परस्पर सूत्रित होते हैं। हमारे लिए दूसरे प्रकार के अचेतन अर्थात् वास्तविक अचेतन का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि परिभाषा से ही वह ऐसे विचारों का भंडार है जिनमें, मनोविश्लेषक की सहायता के बिना, चेतन बनने की क्षमता नहीं है। फ्रायड लिखता है—"हमने देखा है अर्थात् हम मानने को विवश हुए हैं कि ऐसी बहुत शक्तिशाली प्रक्रियाएँ या विचार हैं जो स्वयं चेतन हुए बिना भी मस्तिष्क में वैसे सारे प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं जिन्हें सामान्य विचार उत्पन्न किया करते हैं।"[१२] यदि यह मान भी लें कि वैसे विचारों का अस्तित्व है तो उनका अस्तित्व हमारे लिए अप्रासंगिक है क्योंकि वे विचार हमारे लिए अचेतन रहेंगे और इसलिए वे कलाकार के किसी काम नहीं आ सकेंगे क्योंकि जैसा हमने बार-बार कहा है, कलाकार अपनी सामग्री का उपयोग कलात्मक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए सचेतन रूप में करता है। वह किसी ऐसी सामग्री का उपयोग नहीं कर सकता जो उसके चेतन में नहीं आ गया हो। जो कुछ उसके चेतन में सुलभ है, वही कलात्मक उद्देश्य के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त हो सकता है। कोई विशेष विचार या बिम्ब कहाँ से आया है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। 'द राइम ऑफ दि एन्शेण्ट मैरिनर' इसका प्रमाण है।

लिविंग्स्टोन लोवेस ने बहुत विश्वसनीय रूप में प्रदर्शित किया है कि इस कविता में जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण है उसे कोलरिज ने उन पुस्तकों से लिया है जिन्हें वह बहुत पढ़ा करता था और कविता में प्रयुक्त होने के पहले वे विच्छिन्न बिम्ब और विचार उसके अचेतन में बहुत दिनों तक पड़े रहे।

वे बिम्ब और विचार पहले तो चेतन थे, फिर अचेतन में डाल दिये गये कि आवश्यकता पड़ने पर कवि उन्हें पुनः चेतन बना सके। अचेतन में, अथवा लिविंग्स्टोन लोवेस के अनुसार गहरे कुएँ में, वे चीजें केवल प्रसुप्त नहीं रहतीं। उनमें किसी-न-किसी प्रकार की क्रिया चलती रहती है जिसे प्वाँकारे के शब्दों में उसने इस प्रकार वर्णित किया है—"वे सभी दिशाओं में मच्छरों के झुण्ड के समान उड़ते रहते हैं। यदि इसे ही अधिक विद्वत्तापूर्ण उपमा के रूप में व्यक्त करें तो कह सकते हैं कि गैसों के गतिमलक सिद्धान्त में वे गैसीय अणुओं की तरह चलते रहते हैं और उनकी पारस्परिक टक्कर से नये सम्मिश्रण उत्पन्न हो सकते हैं।" किन्तु यह अचेतन क्रिया कलाकृति में नहीं चल सकती। कलाकृति में अनुशासन, अवधान, संकल्प और परिणामतः चेतना की अपेक्षा होती है।

'दि एन्शेण्ट मैरिनर' के विस्तृत विश्लेषण के बाद लिविंग्स्टोन लोवेस अपने निष्कर्ष इस रूप में प्रस्तुत करता है—"एन्शेण्ट मैरिनर के पीछे धारणाओं और संस्कारों की भीड़ है जो अपनी सम्पन्नता और विविधता में निस्संदेह विस्मयकारी है। किन्तु यह कविता संस्कारों का ढेर नहीं है जैसे हीरों की धूल का ढेर चमकीले चूर्णों का योग हुआ करता है। कवि वैसे संस्कारों के ग्रहण और संचारण में प्रभावग्राही माध्यममात्र नहीं है। इस कविता के पीछे संस्कारों के अनन्त मेल और परिश्रम छिपे पड़े हैं जो मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा चेतन की सतह पर लाये गये हैं। इसमें भी प्रश्न की कोई गुंजाइश नहीं है। यह कविता अचेतन रूप में मूल्यवान् बिम्बों का संगममात्र नहीं है जिस प्रकार बिखरे हुए बिन्दुओं के मेल से जलाशय बन जाता है। कवि अवसीम (सबलिमिनल) जगत् का निद्राचारी भी नहीं है। इस कविता का निर्माण न तो चेतन संस्कारों से और न अचेतन व्याख्याओं से हुआ है। वे इससे अभेद्य हैं किन्तु यह ऐसा तत्त्व है जिसे वे उत्पन्न नहीं करते। इसके प्रतिकूल प्रत्येक संस्कार, अभी जो कुछ है, पूर्णता का भागीदार या उसका अंश होकर ही है जो पूर्ण नियामक कल्पनात्मक रूपांकन (कण्ट्रोलिंग इमैजिनेटिव डिज़ाइन) से उत्पन्न है। इस कविता का असंप्रेष्य और अनुपम तत्त्व इसका रूप है।" और वह रूप कवि की पसन्द, प्रेरक बुद्धि और सर्जनशील मस्तिष्क के श्रम का परिणाम है। किन्तु जिस ऊर्जा के कारण भास्वर बिम्बों का समुच्चय होने के बदले यह कविता कविता हुई, वह उस

मानव-मस्तिष्क की उपेक्षा है जिसमें अव्यवस्था में भी चिन्तन की क्षमता है और विश्रृंखलता और अव्यवस्था में भी स्पष्टता और श्रृंखला को आरोपित करने की प्रबल शक्ति है। चमकीले संस्कारों और उनके अवसीम संगमों की भीड़ में रूपांकनों की प्रेरक शक्ति भी है। संघटक बिम्बों की उत्पत्ति चाहे जहाँ से भी हो, उनका विन्यास इस विलक्षणता से हुआ है कि वे कविता का निर्माण करनेवाली धारणा से बिलकुल एकरूप हो जाते हैं। जो बिम्ब इस कविता को रूप देते हैं, उनकी अर्थवत्ता और सौन्दर्य एक निश्चित योजना के विकास के परिणाम हैं। आर्नल्ड के सारगर्भ शब्दों में, कोलरिज ने अभिव्यंजना को अभिव्यंग्य के अधीन कर दिया है।[१३]

यह तथ्य का प्रायः सही कथन है। कला में अभिव्यंजना सदा सचेत रूप से अभिव्यंग्य से गौण हुआ करती है। जैसा हमने कहा है, कलाकार अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करता है, वह विसंवादी तत्त्वों में समस्वरता आहित करता है और ऐसा वह इसलिए कर पाता है कि वह अपनी कला का स्वामी है, विवश दास नहीं। किन्तु मनोविश्लेषकों के हाथ में 'कुबला खाँ' ट्रम्प कार्ड है जो एक 'स्वप्न-कविता' है और जिसकी रचना कोलरिज ने स्वप्न में की थी। लिविंग्स्टोन लोवेस भी यह स्वीकार करता है कि यह कविता अपवाद है। 'कुबला खाँ' में सम्बद्ध और परस्पर अनुस्यूत बिम्ब देदीप्यमान रूप में उभर आये हैं और उनकी झाँकी जितनी निरुद्देश्य है, उतनी ही भव्य। 'एन्शेण्ट मैरिनर' में चिन्तन शासक के रूप में वर्त्तमान था; 'कुबला खाँ' में उसका नियंत्रण समाप्त हो गया है।[१४] तात्पर्य कि यहाँ हमें एक ऐसी कलाकृति मिलती है जिसका निर्माण चेतन नियंत्रण के बिना हुआ, जब चिन्तन की नियामक शक्ति समाप्त हो गयी थी और अनुशासन, अवधान, संकल्प अर्थात् चैतन्य नहीं रह गया था, किन्तु यह कविता नियम का अपवाद नहीं है। जब हम सोते हैं तो चेतन से अचेतन पर सहसा नहीं चले जाते—अचेतन की बेहोशी एकाएक नहीं आ जाती। निद्रा और जागरण में एक प्रकार से अंधकार और प्रकाश की गोधूलि वाली स्थिति रहती है, जब हम बाहर से तो निद्रित दिखाई देते हैं, किन्तु चेतन मस्तिष्क अपनी शक्तियों का सर्वथा परित्याग नहीं किये होता। निद्रा से पूर्ण जागरण के पहले भी हम अंधकार और प्रकाश की स्थिति में रहते हैं। मैं समझता हूँ कि यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है कि इस अंधकार-प्रकाश की स्थिति में मस्तिष्क

काम करता रहता है, खासकर तब जब सोने जाने के पहले हम किसी विचार में लीन रहे हों या किसी चीज ने हमें बहुत प्रभावित किया हो या किसी वस्तु में हमारी गहरी दिलचस्पी रही हो। और मैंने देखा है कि इस गोधूलि की स्थिति में मस्तिष्क बहुत तेजी से काम करता है, मानो उसकी क्रिया पर ही हमारा जीवन निर्भर हो। इस स्थिति में कोई चाहे तो मस्तिष्क के हथौड़ों की आवाज भी सुन सकता है। इस स्थिति में दिमाग काम ही नहीं करता, बल्कि काफी सुलझे ढंग से काम करता है, किन्तु मानसिक क्रियाओं की तीव्रता के अनुपात में जो परिणाम प्राप्त होता है वह बहुत थोड़ा होता है। इस स्थिति में हम किसी भी समस्या का समाधान कर सकते हैं, कोई भाषण तैयार कर सकते हैं या किसी कलाकृति की सृष्टि भी कर सकते हैं। जगने के पहले मस्तिष्क में क्या हो रहा था, इसकी स्पष्ट धारणा आदमी को बनी रहती है, किन्तु वह बहुत तेजी से मिट जाती है। यदि कोई उसे स्पष्टता से तुरत भी लिख लेना चाहे तो शायद ही सफल हो सके। मानसिक क्रियाओं की तीव्रता के बावजूद उससे उत्पन्न होनेवाली कृति शिथिल, असम्बद्ध और अपूर्ण ढंग की होती है।

कोलरिज के साथ जो घटना घटी वह यों थी। वह अफीम के प्रभाव में सो गया था और जब उसका असर मिट गया तो वह चेतना और अचेतना के बीच की स्थिति में पड़ा था। उसका मस्तिष्क बहुत तीव्रता से काम करने लगा और 'पर्चाज़ पिल्ग्रिमेज' की निम्नलिखित पंक्ति से उसकी सक्रियता और भी उत्तेजित हो गयी—"यहाँ कुबला खाँ ने आदेश किया कि एक महल बनाया जाए और उसमें एक शानदार बाग़ भी हो। इस प्रकार दस मील उपजाऊ जमीन दीवार से घेर दी गयी!" और इसका परिणाम है वह कविता। यह समझ लेना आसान है कि कोई संवेदन अथवा सचेतन प्रयास क्यों नहीं हुआ। इस स्थिति में मानसिक चेष्टा प्रायः स्वचालित होती है जिसमें किसी प्रयास, नियंत्रण अथवा संकल्प का चिह्न नहीं होता। इस कविता की स्पष्टता, (कविता के बिम्ब उसके समक्ष वस्तुओं के समान आविर्भूत हुए) स्मृति की विशदता और फिर तुरत उसका विलीन हो जाना, ये सब वैसे ही हैं, जैसा इन्हें होना चाहिए था।

'एन्शेण्ट मैरिनर' के संशोधित संस्करण में कोलरिज ने एक उपशीर्षक दिया था—'कवि का दिवास्वप्न'। यह उपशीर्षक देते समय कोलरिज ने सभी

बातों पर ध्यान नहीं दिया था। जैसा लिविंग्स्टोन लोवेस सबल रूप में कहता है, "'एन्शेण्ट मैरिनर' और चाहे जो भी हो, दिवास्वप्न नहीं है।" किन्तु यह उपशीर्षक 'कुबला खाँ' का बहुत असंगत वर्णन नहीं होगा। लॉक कहता है कि जब हमारे मन में बिना सम्यक् ज्ञान और चिन्तन के विचार तैरते हैं तो उनकी स्थिति दिवास्वप्न की होती है। तैरनेवाले विचार तो प्रत्येक कवि के मन में रहते हैं किन्तु वे कविता में नहीं तैरते। 'कुबला खाँ' में वे प्रासाद-शीर्ष की छाया के समान तैरते हैं। तैरनेवाले और स्थिर बिम्बों तथा विचारों के इस अन्तर से ही यह निष्कर्ष निकलता है कि दिवास्वप्न अथवा रम्यकल्पना किसी कलाकृति के समुचित वर्णन अथवा उसकी उत्पत्ति का आधार नहीं बन सकती। किसी भी कलाकृति में विचारों और बिम्बों के दोलायमान तथा अस्थिर प्रवाह के बीच भी नियामक, चेतन ऊर्जा विद्यमान रहती है जो उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर एक-दूसरे से सामंजस्य स्थापित करते हुए एक खास साँचे में ढाल देती है।[१५] यह दिवास्वप्न से भिन्न होती है और इसमें विभिन्न तत्त्वों का सम्मिलन ही नहीं, एकीभाव हो जाता है।

मैं समझता हूँ, यह काफी अच्छी तरह से प्रतिपादित किया जा चुका है कि 'कुबला खाँ' ट्रम्प कार्ड नहीं है, जैसा लोगों ने मान रखा है। वह सच्चे अर्थ में स्वप्न-कविता नहीं है और किसी भी हालत में उससे यह नहीं प्रमाणित होता कि कलात्मक प्रक्रिया अचेतन प्रक्रिया है और कलाकार अपनी वस्तु पर सचेत नियंत्रण नहीं रखता।

वैयक्तिक अचेतन का अस्तित्व उपयोगी प्राक्कल्पना के रूप में हमें स्वीकार्य है। वह उपयोगी इसलिए है कि मनस्तापियों के सम्बन्ध में उससे कुछ अस्पष्ट मानसिक प्रक्रियाओं की व्याख्या में सहायता मिलती है और कलाकृति की कुछ विशेषताओं का विवरण भी प्राप्त होता है किन्तु उसमें वह शक्ति नहीं है जो मनोविश्लेषक उसपर आरोपित करते हैं। मनस्तापियों के जीवन में उसका जो भी प्रभाव हो, कलाकृति की सृष्टि में उसका कोई प्रभाव नहीं दिखायी देता। कलाकृति और मनस्तापियों पर भी उसका प्रभाव इसलिए दिखायी देता है कि वे चेतन से प्राप्त सामग्री को अथवा अपने आवेगों का संतोषप्रद उपयोग करनें में असफल रहते हैं। उनके मानसिक जीवन में जो उलझनें पैदा होती हैं वे इस असफलता का प्रत्यक्ष परिणाम होती हैं।

कुछ अप्रिय स्थितियाँ और कुछ इच्छाएँ, जो व्यक्तिगत अथवा सामाजिक दृष्टि से अग्राह्य हैं, उनके सामने आती हैं और उन्हें स्वीकार करने या साहसपूर्वक हल करने के बदले वे नैतिक रूप में कायरपन से पेश आते हैं और उनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। बाद में उनके भीतर प्रतिशोध की भावना जगती है, मानो उनका पाप ही बाहर निकलने का रास्ता ढूँढ़ रहा हो।

सामूहिक अचेतन की दूसरी प्राक्कल्पना भी स्वीकार नहीं की जा सकती। उसके समर्थन के लिए मनोविश्लेषकों ने जो साक्ष्य दिये हैं, वे विश्वसनीय नहीं हैं। मैलिनोव्स्की ने प्राक्कल्पना को चुनौती दी है और उसका खण्डन किया है। निस्सन्देह वह मनोविश्लेषकों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। जो भी हो, वह प्राक्कल्पना हमारी चर्चा में अप्रासंगिक है। यह प्रमाणित किया जा चुका है कि कलाकार अपने अचेतन का विवश दास नहीं है। वह जो कुछ करता है उसके लिए वह उत्तरदायी है और निश्चित कलात्मक उद्देश्यों के लिए वह अपनी सामग्री का सचेत उपयोग करता है। इस प्रकार वह तथाकथित 'सामूहिक अचेतन' का भी विवश दास नहीं है। चूँकि वह कलाकार है, इसलिए निष्क्रिय साधन बन जाए, यह अमान्य है।

किसी कलाकृति में, विशेषतः महान् कलाकृति में, हम जीवन के दृश्य भाग की अनुभूतियों को अर्थात् कलाकार की वैयक्तिक सचेतन अनुभूतियों को नहीं पाते। कहते हैं कि हम जो पाते हैं वे आदिम अनुभूतियाँ हैं। युंग लिखता है, "जो अनुभूतियाँ कलात्मक अभिव्यंजना की सामग्री प्रस्तुत करती हैं वे कुछ विचित्र वस्तु होती हैं जिनका अस्तित्व मनुष्य के मस्तिष्क की पश्चभूमि में रहता है। वे प्राग्मानव-युगों से मनुष्य को अलग करनेवाले खड्ड को सूचित करती हैं या अंधकार और प्रकाश के मेल से उत्पन्न अतिमानव संसार को प्रस्तुत करती हैं। आदिम अनुभूतियाँ मनुष्य के ज्ञान से परे की चीज हैं। उनकी उत्पत्ति कालहीन गहराई से होती है। वे विजातीय, सूक्ष्म, अनेकमुख, असाधारण और विकृत होती हैं। आदिम अनुभूतियाँ ऊपर से नीचे तक उस पर्दे को फाड़ डालती हैं जिसपर संसार का सुव्यवस्थित चित्र अंकित रहता है और वे उस अतुल गहराई की झाँकी प्रस्तुत करती हैं जो कभी आकार नहीं ग्रहण कर सकती। क्या इस दृष्टि का सम्बन्ध दूसरे लोक से या आत्मा की प्राचीनता से या मानव-युग के आरम्भ के पहले की वस्तुओं से अथवा भविष्य की अनुत्पन्न पीढ़ियों से है? हम नहीं कह सकते कि इनमें से वह

क्या है या इनमें से कुछ भी नहीं है।

आदिम अनुभूति कलाकार की सर्जनशीलता का स्रोत है। चूँकि उसका आकलन संभव नहीं है, इसलिए उसे रूप देने के लिए पौराणिक बिम्ब-विधान की आवश्यकता होती है। अपने-आपमें वह कोई शब्द या बिम्ब नहीं प्रस्तुत करती, क्योंकि उसका रूप धूमिल होता है। वह एक प्रकार की गहरी पूर्व-सूचना है जो अभिव्यक्ति पाना चाहती है। उसकी स्थिति उस वात्याचक्र के समान है जो पहुँच की सीमा में पड़नेवाली प्रत्येक चीज को पकड़ लेती है, और उसे ऊपर उठाकर दृश्य आकार धारण कर लेती है। उस दृश्य में जो दिखायी पड़ता है वह सामूहिक अचेतन है।"[१६]

ये उद्धरण युंग के सिद्धान्त की अच्छी खासी रूप-रेखा प्रस्तुत कर देते हैं। सामूहिक अचेतन ही कलाकार की सर्जनशीलता का स्रोत है और उसी से कलाकार को वे अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं जिन्हें वह अपनी कलाकृति में रूपायित करता है। यह सामूहिक अचेतन गत्यात्मक वस्तु है, यह वात्याचक्र है जो अभिव्यक्त होना चाहता है और कलाकार को बाध्य करता है कि वह उसे रूप प्रदान करे। कलाकार आदिम अनुभूति को नहीं समझ सकता, क्योंकि उसका ज्ञान किसी मनुष्य को नहीं है, परन्तु उसकी प्रकृति और सार्थकता को बिना समझे हुए भी वह बहुत सफलतापूर्वक और कलात्मक ढंग से उसे अभिव्यक्त कर देता है। चूँकि वह अनुभूति उसकी असाधारण, दैनिक अनुभूतियों से अर्थात् जीवन की दृश्यमान अनुभूतियों से भिन्न होती है, इसलिए कलाकार उसे रूप देने के लिए पौराणिक बिम्बों को ग्रहण करने को बाध्य हो जाता है। युंग इस विषय में बार-बार कलाकार की विवशता पर बल देता है, क्योंकि वह सामूहिक अचेतन का अभिकरण (एजेण्ट), साधन या दास बनकर रह जाता है। वह लिखता है कि "जब भी सर्जक शक्ति प्रबल होती है तो मानव-जीवन सक्रिय संकल्प के विरुद्ध अचेतन द्वारा शासित होकर उसी के साँचे में ढल जाता है और सचेतन अहम् भीतर छिपे प्रवाह में बह जाता है तथा उसकी स्थिति घटनाओं के अहसाय द्रष्टा से जरा भी अधिक नहीं होती। जो कृति निर्मित होती है वह कवि के हाथ लगती है और उसके मनोवैज्ञानिक विकास को निर्धारित करती है। गेटे ने फाउँस्त की सृष्टि नहीं की, बल्कि फाउस्त ने ही गेटे की सृष्टि की।" यह कहना कि "गेटे ने फाउस्त की सृष्टि नहीं की, बल्कि फाउस्त ने गेटे की सृष्टि की" और इसे

गंभीर, वैज्ञानिक वक्तव्य के रूप में प्रस्तुत करना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निस्सन्देह गेटे ने ही फाउस्त की सृष्टि की। इसमें दूसरे विकल्प की संभावना ही नहीं है। अनुशासन, अवधान और इच्छा के बिना कोई कलाकृति, या यों कहें कि कोई रचनात्मक कार्य, संभव नहीं है और ये सारी विशेषताएँ—अनुशासन, अवधान, इच्छा—कवि की चेतना से उत्पन्न होती हैं।

युंग आगे यह भी कहता है कि कलाकार चेतना के मूल में रहनेवाले सामूहिक मन से स्वास्थ्यकर (हीलिंग) तथा मुक्तिदायक (रिडीमिंग) शक्ति ग्रहण करता है और जीवन के उस साँचे में प्रवेश करता है जिसमें सभी मनुष्य निहित हैं और जो सम्पूर्ण मानव-अस्तित्व को एक सामान्य लय में बाँधता है। उपसंहार करते हुए वह कहता है कि "कलात्मक सृष्टि और कला की मर्मस्पर्शिता रहस्य की अनुभूति के उस स्तर पर प्राप्त होती है जहाँ व्यक्ति नहीं, केवल मनुष्य रहता है, और जहाँ किसी एक व्यक्ति के सुख-दुख का महत्त्व नहीं, बल्कि मानव-अस्तित्व का महत्त्व है।"[१७]

मैंने युंग के सिद्धान्त का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है, क्योंकि यह सिद्धान्त रोचक है। यह बात दूसरी है कि यह सर्वथा अग्राह्य है। सामूहिक अचेतन, सामूहिक मन, जातीय स्मृति, सामाजिक मनुष्य, आदिम बिम्ब—ये या इनसे मिलती-जुलती दूसरी प्राक्कल्पनाएँ बहुत ही अपर्याप्त साक्ष्य पर खड़ी हैं। इनसे हमें नये तथ्य नहीं प्राप्त होते। केवल शब्दावली नयी है और ये प्राचीन प्रेरणा-सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप देकर नये वैज्ञानिक रूप में दुहरा भर देते हैं। पहले कहा करते थे कि कवि दिव्य प्रेरणा से काम करता था। वह ऐसी वीणा था जिसपर प्रेरणा के समीर के टकराने से मधुर संगीत निकलता था। हम जानते हैं कि प्रेरणा का समीर वहीं बहता है जहाँ वह चाहता है। और, इस प्रकार कवि स्वप्नों का द्रष्टा, दिव्य संदेश-वाहक, स्वर्णिम भविष्य का अग्रदूत माना जाता था। प्राचीन और नवीन के बीच जो साम्य है वह स्पष्ट है, अन्तर केवल इतना है कि दिव्यता का स्थान सामूहिक चेतन ने छीन लिया है। यह आसानी से प्रमाणित हो सकता है कि मैं न तो कोई कल्पना की उड़ान भर रहा हूँ और न मनोविश्लेषक के प्रति अन्याय कर रहा हूँ। रीड, जो मनोविश्लेषण का प्रबल प्रशंसक है, लिखता है—"कोई कलाकृति अपनी ऊर्जा, युक्तिहीनता और रहस्यात्मक शक्ति 'इड' से प्राप्त करती है जिसे प्रेरणा का स्रोत मान सकते हैं। प्रेरणा

शब्द के पीछे रहनेवाला प्राचीन रूपक इस हद तक प्रमाणित हो जाता है कि मन के क्षेत्र के अंधकार से, जिसे हम 'इड' कहते हैं, शब्दों, ध्वनियों और बिम्बों की वह आकस्मिक प्रेरणा उत्पन्न होती है जिनसे कलाकार अपनी कलाकृति का निर्माण करता है।"[१८] इसपर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। यह एक मानी हुई बात है कि अनेक नवीन तथाकथित आविष्कार वस्तुतः नवीन नहीं हैं। पहले जो बात अवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत थी उसी को वे वैज्ञानिक ढंग से दुहरा देते हैं अथवा पहले जो अन्तःप्रज्ञा (इण्ट्यूशन) का विषय था उसी की, वैज्ञानिक रूप से परीक्षित विषयों के आधार पर, व्याख्या कर देते हैं। चूँकि ये नवीन आविष्कार वस्तुतः नये नहीं हैं, इसीलिए यह साबित नहीं हो जाता कि ये अप्रामाणिक हैं और न इससे इनका मूल्य ही कम होता है। किन्तु सामूहिक अचेतन से तथा दूसरे विषयों से सम्बद्ध मनोविश्लेषण के अनुसंधान की बात अलग है। वे अखण्डनीय और वैज्ञानिक रूप से निश्चित तथ्य पर आधारित नहीं हैं। वे अनुमान हैं जो रोचक तो हैं किन्तु अपर्याप्त आँकड़ों पर आधारित रमणीय प्राक्कल्पना मात्र हैं और इसलिए दिव्य प्रेरणा वाले सिद्धान्त से अधिक मूल्यवान् या वैज्ञानिक नहीं माने जा सकते।

कलाकार मनुष्य-योनि का जीव है और इसलिए वह इस योनि की प्रतिनिधि विशेषताओं से युक्त है। उसकी अन्तःप्रज्ञा, आवेग, संवेदन, विचार, भाव और सभी दूसरी मानसिक प्रक्रियाएँ निश्चित रूप से मानवीय हैं और इसी से उसकी कृति में वह व्यापकता आती है जिससे उसका आस्वादन सभी कर पाते हैं। ऐसा खासकर इसलिए होता है कि वह अपनी अनुभूतियों से उन वैयक्तिक तत्त्वों को हटा देता है जो किसी को खटक सकते हैं। कलाकृति की निर्वैयक्तिकता का कारण कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। यदि कलाकार सामूहिक मनुष्य है तो केवल इसी अर्थ में कि वह अपनी योनि का सबसे बुद्धिसम्पन्न और संवेदनशील प्राणी है और इसलिए उसका संघटन सूक्ष्मतर और संवेदनशीलता संश्लिष्टतर होती है और दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा वह अधिक सबलता से अनुभव कर सकता है और अधिक गंभीरता से देख सकता है। किन्तु उसकी अनुभूतियाँ वैयक्तिक होती हैं, सामूहिक नहीं और वह इन अनुभूतियों का अपनी कलाकृति की सृष्टि में सचेत रूप में उपयोग करता है। किसी कलाकृति की सृष्टि में अचेतन प्रक्रियाएँ काम करती हैं,

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु यह मानना होगा कि अचेतन प्रक्रियाएँ परिनिष्ठित कलाकृति की सृष्टि में असमर्थ हैं। वे केवल वह सामग्री प्रस्तुत करती हैं जिसका सचेत रूप में कलाकार अपनी कृति में उपयोग करता है। आलोचक की दृष्टि से किसी कलाकृति के पीछे काम करनेवाली अचेतन प्रक्रियाओं का बहुत महत्त्व नहीं होता क्योंकि उसका सम्बन्ध परिनिष्ठित वस्तु से होता है। रिचर्ड्स ने ठीक ही लिखा है कि "मनोविश्लेषक कुछ भी क्यों न कहें, कवि की मानसिक प्रक्रियाओं के ऊहापोह से कोई लाभ नहीं हो सकता। वे अनियंत्रित अनुमानों की क्रीड़ा-भूमि बनकर रह जाती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कविता की रचना के पीछे जो प्रक्रिया चलती है उसमें बहुत-कुछ अचेतन रहता है। यह भी सम्भव है कि चेतन प्रक्रियाओं की अपेक्षा अचेतन प्रक्रियाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हों (यद्यपि हम ऐसा नहीं सोचते)। फिर भी कवि का मस्तिष्क किस रूप में काम करता है, इसके सम्बन्ध में अभी जितना हम जानते हैं, उससे यदि अधिक भी जानते होते तो केवल कलाकार की कृति के आधार पर उसकी आन्तरिक चेष्टा को प्रकट करने का प्रयास बहुत बड़े खतरे की चीज होती। लियोनार्दो दा विन्ची पर फ्रायड ने या गेटे पर युंग ने जो लिखा है उसके आधार पर यदि विचार करें तो यह मानना होगा कि मनोविश्लेषक बड़े ही अनिपुण आलोचक होते हैं।"[९]

✦ ✦ ✦

१. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइको-अनैलिसिस।

२. साइकोऐनलिटिकल मेथड एण्ड डॉक्ट्रिन ऑफ फ्रायड।

३. स्क्रुटिनी, जून १९३६।

४. वही।

५. बियॉन्ड द प्लेज़र प्रिंसिपुल।

६. स्क्रुटिनी, जून १९३८।

७. साइकॉलोजी एण्ड क्रिटिसिज़्म (क्राइटीरियन)।

८. हाउ द माइण्ड वर्क्स।

९. सेलेक्टेड ऐसेज़।

१०. रिचर्ड मार्च, स्क्रुटिनी, जून १९३६।

११. दि ईगो एण्ड दि इड।

१२. वही।

१३. रोड टु जैनैडू।

१४, १५. वही।

१६. मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ ए सोल।

१७. वही।

१८. कलेक्टेड एसेज़।

१९. द प्रिंसिपुल्स ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म।

◆ ◆ ◆

९

साहित्यिक मूल्य

मनोविश्लेषकों का मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। सर्जनात्मक क्रिया को वे मानसिक क्रियाओं का, जिनमें उनकी अभिरुचि रहती है, एक अंग मानते हैं। उनकी दृष्टि में किसी दूसरी क्रिया की अपेक्षा उसका अधिक मूल्य नहीं होता। किसी कलाकृति में उनकी अभिरुचि केवल इसलिए होती है कि उसके द्वारा उन्हें उन मानसिक क्रियाओं के अध्ययन का अवसर मिलता है जो सर्जनात्मक कृति के पीछे काम करती हैं; उसमें उनकी अभिरुचि इसलिए नहीं होती कि वह अपने-आपमें मूल्यवान् है। अतः उनके लिए असफल प्रयास भी उतना ही उपयोगी है जितनी कोई श्रेष्ठतम कलाकृति। संभव है, वह (असफल प्रयास) कभी-कभी अधिक उपयोगी भी हो जाए। किन्तु आलोचक का सम्बन्ध मुख्यतः किसी कलाकृति के मूल्य से होता है और केवल गौणतः उसके पीछे काम करनेवाली मानसिक क्रिया से।

मूल्य का विचार मूलतः दर्शन के क्षेत्र में पड़ता है और कोई दर्शनों का जितना अध्ययन करता है उतनी ही उसकी उलझन बढ़ती है। सिद्धान्त इतने विभिन्न हैं, विचारों में इतना गंभीर भेद है और ऐकमत्य की मात्रा इतनी कम है कि कोई भी व्यक्ति सहज ही उनमें खो जाता है। इस दृष्टि से आलोचकों की स्थिति भी कोई खास अच्छी नहीं है। ये विवाद अधिकतर इसलिए उठ खड़े होते हैं कि विषय की प्रकृति अमूर्त्त होती है, साथ ही इसलिए भी कि तर्क भी वैसे ही अमूर्त्त रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। परन्तु किसी मूर्त्त वस्तु के सम्बन्ध में भी जब तर्क होते हैं तो परिणाम कोई अधिक संतोषप्रद नहीं होता।

हम एक ठोस उदाहरण से आरम्भ करें। वर्ड्सवर्थ का यह प्रसिद्ध छन्द लीजिए—

> काईदार पत्थर के पास नील पुष्प-सी,
> आँखों से आधी ओझल,
> एक तारिका-सी सुन्दर, जब वह बिलकुल अकेले
> आकाश में जगमगा रही हो। —लूसी

मैं समझता हूँ कि कोई भी यह स्वीकार करेगा कि यह छन्द सुन्दर है और यह हमें आनन्द प्रदान करता है। इसे चाहें तो ऐसे भी कह सकते हैं कि जब हम इसे पढ़ते हैं तो हम आनन्दित होते हैं। यदि संभव हो तो अब हमें आनन्द के उस रूप का अन्वेषण करना है जो इस छन्द के पाठ से हमें मिलता है अर्थात् वह वस्तुनिष्ठ है या आत्मनिष्ठ। तात्पर्य कि वह किस रूप में उत्पन्न होता है और वैसे आनन्द का हम क्या मूल्य मानें।

इस छन्द को पढ़ते समय हम वैसे ही आनन्दित होते हैं जैसे आकाश में इन्द्रधनुष को या सुनहले डेफॉडिल को या हरी पत्तियों में छिपे गुलाब को या किसी ऐसे ही दूसरे आनन्दप्रद प्राकृतिक दृश्य को देखकर। सुन्दर हम उस वस्तु को कहते हैं जो हमें आनन्द प्रदान करती है। इस तरह हम यह लक्षित करते हैं कि उसमें कुछ ऐसे गुण या धर्म हैं जो उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द के कारण हैं। किन्तु कहते हैं कि आनन्द हममें ही रहता है; वह आत्मनिष्ठ है; वह वस्तु का धर्म नहीं; वस्तु अपने-आपमें न तो आनन्दप्रद होती है और न आनन्दहीन।

ऐसे सिद्धान्तों की बारीकियों में जाने की आवश्यकता नहीं है। संसार का कोई वस्तुपरक अस्तित्व नहीं है; वह भ्रममात्र है; उसकी सत्ता केवल हमारे मन में है। सौन्दर्य भ्रम है और आनन्द भी भ्रम ही है। सच पूछिए तो स्वयं मन भी भ्रम है क्योंकि ये सब हमें अन्धी गली में पहुँचाते हैं। हम साधारण प्रयोग का ही अनुसरण करें जिसके अनुसार कोई वस्तु सुन्दर इसलिए है कि वह हमें आनन्द प्रदान करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्य वस्तु में रहता है क्योंकि विभिन्न अवसरों पर हमें आनन्दित करने की उसमें क्षमता होती है और इससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह विभिन्न व्यक्तियों को आनन्दित कर सकती है। इस प्रकार सौन्दर्य को वस्तु में निहित माना जा सकता है; सान्टयाना इसे ही 'वस्तुनिष्ठीकृत आनन्द' कहता है।

यह आनन्द उस कल्याण-भावना की अस्पष्ट चेतना से भिन्न है जिसका अनुभव कोई स्वस्थ व्यक्ति करता है, कारण कि यह आनन्दात्मक संवेदन किसी विशिष्ट वस्तु से सम्बद्ध नहीं होता और यह आनन्द तब सौन्दर्यात्मक हो जाता है जब इसमें निस्संगता का धर्म आ जाता है। ली इस सौन्दर्यात्मक आनन्द का एक उदाहरण देता है जिससे अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा :

"मान लीजिए कि किसी खेत में चार मजदूर काम कर रहे हैं। गर्मी

का दिन है; शाम हो चली है। कहीं दूर घंटा बजने लगता है और घंटे की ध्वनि सुनने के लिए उनमें से एक काम बन्द कर देता है। वह तानों को सुन रहा है। उसका ध्यान उस ध्वनि की तानों पर है, वे अपने-आपमें चाहे जैसी भी हों। यदि केवल उनका श्रवण उसे आनन्द देता है तो इसका अर्थ हुआ कि वे उसके लिए सुन्दर हैं। दूसरा मजदूर घंटे की ध्वनि सुनने के तुरत बाद अपने औजारों को बटोर लेता है और अपने गाँव की ओर चल पड़ता है। उसके लिए घंटे की ध्वनि इस बात की सूचक है कि काम बन्द करने और घर जाने का समय हो गया। तीसरा व्यक्ति, जो संभवत: श्रद्धावान् आस्तिक है, प्रार्थना करने को झुक पड़ता है। उसके लिए घंटा पूजा का आह्वान है। चौथा व्यक्ति उस क्षेत्र के लिए अजनबी है और यह सोचकर कि घंटा दमकल का घंटा हो सकता है, आपत्ति में पड़े हुए लोगों की सहायता के लिए दौड़ पड़ता है।

इनमें पहले व्यक्ति की अभिवृत्ति सौन्दर्यात्मक है। वह सौन्दर्यात्मक मूल्य का अनुभव कर रहा है। उसकी तुलना में शेष तीन व्यक्तियों की अभिवृत्तियाँ सर्वथा भिन्न हैं। दूसरे व्यक्ति की अभिवृत्ति व्यावहारिक कही जा सकती है, तीसरे की धार्मिक और चौथे की संभवत: नैतिक। शेष तीन अभिवृत्तियों को किस नाम से पुकारें यह महत्त्वशून्य है। महत्त्व की बात केवल इतनी ही है कि पहली अभिवृत्ति से वे तीनों ही निश्चित रूप से भिन्न हैं। पहले व्यक्ति का ध्यान केवल घंटे की ध्वनि पर केन्द्रित है किन्तु शेष तीनों के लिए घंटे की ध्वनियाँ किसी अन्य वस्तु का संकेतमात्र हैं। घंटे की ध्वनि भोजन, प्रार्थना या आग का संकेत है, इससे पहले व्यक्ति का कोई सरोकार नहीं है। घंटे की ध्वनि का इनमें से कोई एक अर्थ हो या अनेक, उसका अर्थ इन सबसे भिन्न है अर्थात् वह सुन्दर है।"[१]

सौन्दर्यात्मक आनन्द का महत्त्व अपने-आपके लिए होता है; वह अपने-आपमें साध्य है; उसका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होता। इसीलिए उसे निस्संग कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में पहला व्यक्ति घंटे की ध्वनि इसलिए नहीं सुनता कि उसका कोई दूसरा भी अभिप्राय होता है, बल्कि उस ध्वनि का महत्त्व अपने-आपमें है। वह ध्वनि पर इसलिए ध्यान देता है कि वह उसे आनन्दप्रद प्रतीत होती है और उसके प्रति उसकी प्रतिक्रिया चिन्तनात्मक होती है, व्यावहारिक नहीं। उसकी अभिरुचि केवल ध्वनि के प्रत्यक्षीकरण में

है और उससे तत्काल प्राप्त होनेवाले आनन्द में; इसके आगे उसका न तो कोई व्यावहारिक उपयोग है और न कोई बौद्धिक व्यापार जिससे कोई क्रिया उत्पन्न हो। घंटे की ध्वनि उसके लिए सुन्दर है, इससे अधिक और कुछ नहीं। इसीलिए रस्किन सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार देता है, "मैं किसी रूप में या किसी मात्रा में उस वस्तु को सुन्दर कहता हूँ जो बुद्धि का बिना प्रत्यक्ष और निश्चित प्रयोग किये केवल अपने बाह्य धर्मों के अनुध्यान से हमें आनन्द दे सके।"[२]

वर्ड्सवर्थ के छन्द से हम काफी दूर हट गये हैं, किन्तु इससे प्राकृतिक और कलात्मक सौन्दर्य के अन्तर को स्पष्ट करने में सहायता मिलेगी। ये चार पंक्तियाँ प्रत्यक्षतः इन्द्रधनुष या फूल से भिन्न हैं; ये कलाकार की कृति हैं, प्रकृति की नहीं। चिन्तन से हमें जो आनन्द मिलता है, उदाहरण के लिए सूर्यास्त के सौन्दर्य को ले लें, तो उसका कारण होता है अनजाने हमारी कलात्मकता का स्फुरण। यह सौन्दर्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे हम निष्क्रिय रूप से प्राप्त करते हैं। इस सौन्दर्य की अनुभूति के हम केवल सक्रिय भागीदार ही नहीं होते, बल्कि वास्तविक सर्जक या उत्पादक भी होते हैं। साण्टयाना ठीक ही कहता है कि प्रत्येक प्राकृतिक दृश्य को देखने के पूर्व उसे निर्मित करना होता है। तात्पर्य यह कि प्राकृतिक दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में कई मानसिक प्रक्रियाएँ निहित होती हैं; जैसे—निर्वाचन, निर्माण, व्याख्यान; यहाँ तक कि कल्पनात्मक योग। किन्तु प्रकृति में वह वस्तु सदा प्रस्तुत रहती है। एलेक्ज़ेण्डर ने लिखा है कि "जो प्रकृति में सौन्दर्य पाता है वह छेनी, तूलिका या ध्वनि से उस वस्तु में हेर-फेर नहीं करता, वह उसे निर्वाचन और निर्माण के द्वारा तथा आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी कल्पनात्मक योग के द्वारा सुन्दर बना देता है। इस तरह कलाकार के समान वह अपना मन प्रकृति से संयुक्त कर देता है। उसे अपनी कल्पना के अतिरिक्त किसी दूसरी निपुणता की आवश्यकता नहीं पड़ती।"[३] किन्तु कलाकार को इससे कहीं अधिक काम करना पड़ता है। सर्जनात्मक कलाकार अपनी सामग्री को अपने उद्देश्य के अनुरूप ढालता है और वह निर्मित वस्तु ही उसके कलात्मक उद्देश्य को अभिव्यक्त करती है। अभ्यास की तुलना में निर्माण बड़ी चीज है, क्योंकि अभ्यास सम्बद्ध वस्तु पर समाप्त हो जाता है, किन्तु निर्माण एक बिलकुल नयी वस्तु उत्पन्न कर देता है; वस्तु नहीं तो रूप तो वह उत्पन्न करता ही

है। कलात्मक निर्माण तकनीकी शिल्प से आगे की चीज है। भवन बनानेवाला भवन को उपयोग के लिए बनाता है किन्तु जो कलाकार उस भवन को सुन्दर बनाता है वह पत्थरों, ईंटों या दूसरी चीजों के विन्यास को, उपयोगिता के अतिरिक्त, उनके सौन्दर्य की दृष्टि से भी देखता है। कवि शब्दों का प्रयोग शब्दों के रूप में करता है, किसी क्रिया के उपकरण के रूप में नहीं। चित्र-कार के रंग भी उसी अर्थ में उसकी भाषा हैं। कलाकार को अपनी सामग्री का इस रूप में संचालन करना पड़ता है कि वह सुन्दर हो सके।[४]

प्राकृतिक और कलात्मक सौन्दर्य में, अथवा उपर्युक्त चार पंक्तियों और सूर्यास्त में, यही अन्तर है। किसी सुन्दर मुखमण्डल का निस्संग चिन्तन एक बात है और ऐसी चार पंक्तियाँ लिखना दूसरी बात। 'लूसी' के सौन्दर्य से आनन्दित होना, या यह कहना कि वह सुन्दर बालिका है, कविता करना नहीं है। वर्ड्सवर्थ लूसी के सौन्दर्य के अनुभव-मात्र से सन्तुष्ट नहीं था; उसे जो आनन्द हुआ उसने उसे उत्तेजित किया और उसके मुखमण्डल तथा उससे उत्पन्न होनेवाले आनन्द ने वह सामग्री प्रस्तुत की जिसने वर्ड्सवर्थ के मन पर अधिकार कर लिया और इन पंक्तियों को लिखने का अवसर प्रदान किया। कलाकार के रूप में वर्ड्सवर्थ ने उस सामग्री का उपयोग किया और उसमें से एक बिलकुल नयी चीज़ उत्पन्न कर दी। सामग्री का जो उपयोग होता है वह अपना साध्य आप है अर्थात् कवि की दृष्टि में उसका कोई व्यावहारिक प्रयोजन नहीं है। वह अपनी वस्तु या सामग्री पर ऐसा रूप आरोपित कर देता है जो पहले उसमें नहीं था। यह नया रूप महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा उस वस्तु को अर्थवत्ता प्राप्त होती है। यह रूप और यह अर्थवत्ता कवि के हृदय से उत्पन्न होती है और अपनी वस्तु को रूप प्रदान करने में वह अपने हृदय की प्रेरणा का अनुसरण करता है। कवि अपने को अपनी वस्तु के साथ इस रूप में एकात्म कर देता है कि उससे उसका सर्वथा रूपान्तरण हो जाता है मानो उसमें रासायनिक परिवर्त्तन हो गया हो। वह वस्तु बिलकुल नयी दीखने लगती है। वस्तु पर रूप का अध्यारोप उसे दूसरों के लिए प्राप्य, या यों कहें कि अनुभवगम्य, बनाता है। इससे कवि की अनुभूति को स्थायित्व प्राप्त होता है जो रूप के अभाव में संभव नहीं था।

वर्ड्सवर्थ के द्वारा प्रयुक्त शब्द बिलकुल साधारण हैं। यहाँ दो परिचित बिम्ब हैं—वायलेट और तारा—किन्तु ये इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त हैं।

ये बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से उसकी अनुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं और उसकी सार्थकता को व्यक्त करते हैं। यह शालीन वायलेट पुष्प से बढ़कर प्रतीक है, प्रतीक भी ऐसा जो बहुत वास्तविक है तथा उसका अपना सौन्दर्य है। हम इस वायलेट को काईदार पत्थर के पास देखते हैं जो 'दृष्टि से आधी छिपी है' किन्तु वायलेट के पीछे हम लूसी को देखते हैं और लूसी के पीछे उस विशिष्ट संवेग को जिसका अनुभव वर्ड्सवर्थ को हुआ था। वह संवेग उस लड़की के चरित्र, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य और सरलता, उसमें प्रगल्भता की कमी, उसकी एकाकी प्रकृति, उसकी एकाकी सत्ता से प्राप्त अतिरिक्त आकर्षण, उसकी सजीवता से सम्बद्ध है। स्पष्ट है कि वह संवेग सरल संवेदना या आनन्द नहीं है बल्कि वह अधिक समृद्ध है, साथ ही अधिक जटिल और अनिवार्यतः सार्थक भी। किन्तु बात यहीं खतम नहीं हो जाती। एकाकी, आधे छिपे वायलेट से हमारी दृष्टि स्वर्ग की ओर मुड़ जाती है और हम उस तारे के सौन्दर्य का ध्यान करने लगते हैं जो आकाश में अकेले चमक रहा है। हम एकाकी तारे के सौन्दर्य का ध्यान करते हैं (यहाँ एकाकी शब्द ध्यान देने योग्य है) और वायलेट के समान ही तारा भी प्रतीक है, पहले लूसी का और उसके बाद कवि के संवेग का। फिर यह प्रतीक एकाकीपन, दूरता, सरलता, सौन्दर्य, नैसर्गिकता की अर्थात् अधिकतर उन विचारों की व्यंजना करता है जो पहले बिम्ब से व्यंजित हुए थे। किन्तु अगर यह कुछ अधिक नहीं करता तो अंशतः निरुपयोगी हो जाता; अधिक-से-अधिक यही करता कि पहले बिम्ब द्वारा संचारित व्यंजनाओं को केवल दृढ़तर कर देता। परन्तु यह बिम्ब निश्चय ही अनावश्यक नहीं है और न केवल दूसरे बिम्ब को दृढ़तर करने के लिए ही है। वायलेट से तारे की ओर, पृथ्वी से स्वर्ग की ओर मुड़ना दृष्टि को बहुत ही व्यापक बना देता है। यह वैसा ही है जैसे किसी संकीर्ण किन्तु सुन्दर पहाड़ी रास्ते से जाते-जाते मोड़ से मुड़ने पर एकाएक कोई विशाल, सीमाहीन, रमणीय, नीचे फैला हुआ समतल मैदान दिखायी पड़ जाए। इस सादृश्य से स्थिति उलट जाती है पर मैं समझता हूँ कि कविता से हमें जो अनुभूति होती है उसके आकस्मिक विस्तार की इससे सम्यक् अभिव्यंजना हो जाती है। इस विद्यमान संवेग में अधिक सजीवता आ जाती है, वह जटिलतर और गंभीरतर हो जाता है; ऐसा लगता है जैसे सीमाहीन आकाश का विस्तार और

गांभीर्य इस बिम्ब में आ गये हों। यह आध्यात्मिक विस्तार दूसरे बिम्ब के प्रयोग की सार्थकता प्रमाणित करने को पर्याप्त है किन्तु वह इतना ही नहीं, इससे और भी अधिक कार्य करता है। उससे कुछ नयी व्यंजनाएँ प्राप्त होती हैं। वर्ड्सवर्थ की दृष्टि में लूसी बालिका-मात्र नहीं, कुछ और भी थी। वह स्वर्गिक जीव थी जो दूसरे लोक से विहार करने आयी थी। वर्ड्सवर्थ ने उसके साथ मृत्यु का साहचर्य कभी नहीं किया :

वह ऐसी वस्तु थी जो अनुभव नहीं कर सकी
पार्थिव काल के स्पर्श का।

और उसकी मृत्यु के बाद भी वर्ड्सवर्थ उसके अस्तित्व की कल्पना करता है—वह जीवित रहती है और अपना एकाकी संगीत गाती रहती है। तारे का प्रतीक उस सौन्दर्य की व्यंजना करता है जो इस लोक का नहीं है। इसीलिए वह ऐसा सौन्दर्य है जो इस लोक की कालावधि के स्पर्श का अनुभव नहीं कर सकता; वह सौन्दर्य ऐसा है जो आध्यात्मिक और अमर है।

कलाकार अपनी वस्तु का इसी रूप में उपयोग करता है। कवि अपनी वस्तु से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और नयी सृष्टि कर डालता है। वह नयी सृष्टि इन पंक्तियों में, या यों कहें कि इस कविता में, पहली बार रूपायित हुई है। इन पंक्तियों में जो अनुभूति रूपायित हुई है वह साधारण अनुभूति नहीं है, प्रारम्भ में वह चाहे जैसी भी रही हो। इस सम्बन्ध में रिचर्ड्स का भिन्न विचार है। वह लिखता है: "जब हम कोई चित्र देखते हैं या कोई कविता पढ़ते हैं या संगीत सुनते हैं तो हम कोई ऐसा काम नहीं करते जो चित्रशाला जाते समय या प्रातःकाल कपड़े पहनते समय नहीं कर रहे थे। हमारे अन्दर जिस रूप में अनुभूति उत्पन्न होती है वह भिन्न होती है, नियमतः वह अनुभूति अधिक जटिल, और यदि हम सफल हुए तो अधिक एकात्म होती है, किन्तु हमारी क्रिया मूलतः भिन्न प्रकार की नहीं होती।"[५] मैं समझता हूँ कि प्रातःकाल कपड़े पहनना या चित्रशाला जाना स्पष्टतः कविता लिखने से भिन्न है और इसलिए कविता पढ़ने से भी भिन्न है। उसमें जो आवेग और जो अवधान अपेक्षित होता है और जो अनुशासन निहित रहता है वह सर्वथा भिन्न कोटि का होता है।

मैंने लक्षित किया है कि उपर्युक्त कविता में जो अनुभूति वस्तुतः रूपायित हुई है वह मौलिक अनुभूति से अथवा प्रारम्भिक आवेग से भिन्न है।

एबरक्रोम्बी का विचार दूसरा है : "किसी कविता को समाप्त करने पर जो कल्पनात्मक अनुभूति हमारे मन पर अधिकार कर लेती है वह उसकी रचना आरम्भ करते समय उसी रूप में कवि के मन पर भी अधिकार किये हुई थी। जिस क्षण यह बहुरंगी अनुभूति उसके मन में पूर्णतः उद्भासित हुई उसी क्षण वह कविता प्रेरणा के रूप में आकार ग्रहण कर चुकी। अतः कविता की शाब्दिक कला से पृथक् उसकी प्रेरणा पर विचार करना भी संभव है।"[६]

यह एक प्रकार की भ्रांति है किन्तु यह पर्याप्त प्रचलित भ्रांति है। रासीन ने संभवतः अपने एक नाटक के सम्बन्ध में कहा था कि उसने नाटक समाप्त कर लिया था हालाँकि तब तक उसने एक पंक्ति भी नहीं लिखी थी। क्रोचे का विचार था कि कलात्मक अनुभूति का वास्तविक भौतिक रूपायण केवल शिल्प की बात है जो संप्रेषण का काम करता है। संभवतः यह सत्य नहीं है। कवि जिस अनुभूति या प्रेरणा को लेकर लिखना आरम्भ करता है उसका रूप अनिवार्यतः अस्पष्ट होता है अर्थात् वह पूर्णतः पकड़ में नहीं आती। कविता लिखते समय वह केवल अनुवाद-कार्य में लीन नहीं होता; वह उसे अपने मन में रूपायित करने का, स्पष्ट करने का, पूर्णतः पकड़ में लाने का प्रयास करता है; उसे रूप देने और उसमें सौन्दर्य भरने का प्रयास करता है जो रूप या सौन्दर्य उसमें पहले नहीं था। कविता के पूर्ण हो जाने पर उसमें रूपायित अनुभूति उस अनुभूति से मूलतः भिन्न हो सकती है जिससे कवि ने आरम्भ किया था। कविता की प्रेरणा या उसके द्वारा संप्रेषित अनुभूति उसकी शाब्दिक कला से अभेद्य होती है। केवल सुविधा या अभ्यास के कारण ही हम कविता में अर्थ और रूप की चर्चा करते हैं किन्तु इन दोनों में वस्तुतः पार्थक्य नहीं है। कविता अर्थ और रूप का योग नहीं बल्कि रूपायित अर्थ है। हम अभ्यासवश ही यह भी कह दिया करते हैं कि कवि में पहले अनुभूति होती है और तब वह उसे अभिव्यक्त या संप्रेषित करने का प्रयास करता है। वस्तुतः कवि कविता के द्वारा अनुभूति को संप्रेषित नहीं करता। इस तथ्य को भूल जाना कि अनुभूति ही कविता है, आश्चर्यप्रद है।

हम उन चार पंक्तियों को फिर लें। वर्ड्सवर्थ को जिस चीज ने आन्दोलित किया था वह एकाकिनी बालिका की सरलता और प्राकृतिक सुन्दरता थी। किन्तु इन पंक्तियों में हम जो पाते हैं वह साधारण, प्राकृतिक आनन्द-

मात्र नहीं है। वर्ड्सवर्थ की प्रतिक्रिया कहीं अधिक जटिल और वैयक्तिक है और हम कह सकते हैं कि यह अनुक्रिया ही छन्द बन गयी है। अब हमें इसके मूल्य पर ध्यान देना है। यह सामान्यतः कोई भी स्वीकार करेगा कि यह छन्द मूल्यवान् है। सौन्दर्य के समान मूल्य भी किसी वस्तु का धर्म हुआ करता है किन्तु वस्तु मूल्य नहीं है। वस्तु में मूल्य रहता है। इसका हमें पता हो भी सकता है और नहीं भी। जब किसी घटना का प्रत्यक्षीकरण हमें आनन्द देता है तो कह सकते हैं कि उसके मूल्य की हमें अनुभूति होती है परन्तु आनन्द मूल्य नहीं है, वह तो मूल्य-निर्धारक तत्त्व है। वर्ड्सवर्थ का छन्द हमें आनन्द देता है, इसलिए उसमें मूल्य है। हमारे लिए उसका मूल्य क्या है यह उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द की मात्रा से निर्दिष्ट होता है।

ली लिखता है—"प्रत्येक सौन्दर्यात्मक मूल्य आन्तरिक मूल्य होता है। तात्कालिक प्रत्यक्ष अनुभूति में तन्मयता को सौन्दर्यात्मक अभिवृत्ति कहते हैं। अतः मूल्य से जो कुछ भी वस्तुतः सम्बद्ध है वह तात्कालिक प्रत्यक्ष अनुभूति के बाहर नहीं जा सकता। प्रयोजन अथवा परिणाम का विचार सौन्दर्यात्मक अभिवृत्ति के अन्तर्गत नहीं आता। इसलिए मूल्य-निर्धारक तत्त्व को भी प्रयोजन या परिणाम में ढूँढ़ना असंगत होगा। इस प्रकार तार्किक और बौद्धिक विचार भी सौन्दर्यात्मक अभिवृत्ति के बाहर ही पड़ते हैं और इसलिए सौन्दर्य-मूल्य के निर्धारक तत्त्व सौन्दर्यात्मक अनुभूति के अवयव ही हो सकते हैं।"[७]

वर्ड्सवर्थ का छन्द अपने-आपमें मूल्यवान् है। हम उसे इसलिए मूल्यवान् नहीं मानते कि हमें उससे कोई सूचना मिलती है अथवा उसका कोई व्यावहारिक मूल्य है। हमारी तात्कालिक अभिरुचि उसके प्रत्यक्ष पक्ष में है जिससे हमें आनन्द प्राप्त होता है। थोड़ी देर के लिए हम उसमें तल्लीन हो जाते हैं और इस छन्द के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का हमारे लिए महत्त्व नहीं रह जाता। ऐसा लगता है कि हमने अपने चारों ओर जादू का एक वृत्त खींच दिया है जिसने शेष जगत् से हमें पृथक् कर दिया है। कभी-कभी ऐसा कहा गया है कि कला में हम स्वायत्त जगत् की सृष्टि करते हैं जो जगत् लौकिक जगत् से बिलकुल भिन्न होता है, जो उतना वास्तविक नहीं होते हुए भी लौकिक जगत् की अपेक्षा अधिक वास्तविक होता है। ब्रैड्ले का कहना है कि कविता वास्तविक जगत् का न तो अंश है और न नकल बल्कि वह ऐसा जगत् है जो अपने-आपमें पूर्ण, स्वतंत्र और स्वायत्त है।[८] इसमें

आंशिक सत्य की ही अभिव्यक्ति हुई है। जैसा मैंने कहा है, क्षण भर के लिए हम जादू के वृत्त में खड़े होते हैं, वहाँ से हम इन पंक्तियों के आकर्षण का आनन्द लेते हैं, बार-बार इस आकर्षण की ओर लौट सकते हैं। किन्तु मनुष्य केवल सौन्दर्यात्मक प्राणी ही नहीं है और न वह अपने जीवन को अलग-अलग स्वतंत्र टुकड़ों में बाँट सकता है। उसकी प्रकृति संश्लिष्ट है जिसमें विविधता के बीच भी एकता वर्तमान है। सौन्दर्यात्मक आनन्द केवल सौन्दर्यात्मक नहीं रह सकता; संतुष्टियों के संश्लिष्ट साँचे में विलयन की उसमें क्षमता होनी चाहिए जिसकी माँग मनुष्य की बहुपक्षीय प्रकृति करती है। वर्ड्सवर्थ का छन्द हमें निरपेक्ष आनन्द नहीं देता। उसके द्वारा जिस अनुभूति का संप्रेषण होता है वह हमारी संतुष्टियों के संश्लिष्ट साँचे में प्रवेश कर जाती है, उसका स्थायी अंग बन जाती है और उसे स्थायी रूप से परिवर्त्तित कर डालती है। यदि इस छन्द से प्राप्त होनेवाला आनन्द अस्थायी होता तो उसका विशेष महत्त्व नहीं था। हमारा लाभ स्थायी आनन्द से कहीं बढ़कर है। समृद्ध व्यंजनाओं से युक्त इस छन्द का रसग्रहण हमें सूक्ष्म संवेदनशीलता, गंभीर अन्तर्दृष्टि, तीव्र बोध और सहानुभूतिपूर्ण कल्पना तक पहुँचा देता है। कहने का अभिप्राय यह कि हमारा संघटन सूक्ष्मतर तो हो ही जाता है, वह हमें समृद्धतर और संश्लिष्टतर सौन्दर्यात्मक तथा अन्य संतुष्टियों को देने के योग्य भी हो जाता है।

साहित्य के आलोचक की अभिरुचि निश्चित रूप से सफल कलाकृति के मूल्य के विश्लेषण तथा प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं होती। उसे आलोच्य कृति की सफलता या असफलता का निर्णय भी करना होता है और यह बताना होता है कि जो सफलता प्राप्त हुई है, उसकी मात्रा क्या है। निश्चय ही यह ऐसी चीज है जिससे मनोविश्लेषक का कोई सरोकार नहीं होता। हम दो कविताओं का मूल्यांकन करें। उदाहरणार्थ, वर्ड्सवर्थ की 'ए स्लम्बर डिड् माइ स्पिरिट सील' और कोरी की 'हेराक्लितुस'। वर्ड्सवर्थ की छोटी कविता निश्चय ही महान् है और कोरी की उतनी अच्छी नहीं; वस्तुतः वह कविता बुरी है। मनोविश्लेषक को ये दोनों कविताएँ समान भाव से रोचक प्रतीत होंगी और इनमें प्रयुक्त प्रतीकों का परीक्षण करने के बाद वह इस बात का प्रयास करना चाहेगा कि दोनों कवियों के मन में कौन-सी अचेतन शक्तियाँ काम कर रही थीं; वह उन विशिष्ट ग्रन्थियों का निर्धारण करना चाहेगा जो

इन रचनाओं के पीछे वर्त्तमान हो सकती हैं। इसके विपरीत आलोचक का प्रयास होगा अनुभूतियों का मूल्यांकन करना।

सुषुप्ति ने मेरी आत्मा को विमुद्रित कर रखा था :
मैं मृत्यु के भय से मुक्त था :
वह ऐसी वस्तु थी जो अनुभव नहीं कर सकी
पार्थिव काल के स्पर्श का।
उसमें अब न गति है, न बल है,
वह न सुनती और न देखती है;
पृथ्वी की दैनिक गति में लिपट गयी है
चट्टानों, पत्थरों और पेड़ों के साथ।।१

× × × ×

उन्होंने मुझसे कहा, हिराक्लितुस, उन्होंने कहा कि तुम्हारी मृत्यु हो गयी

उन्होंने सुनने को मुझे मर्मभेदी समाचार दिया और गिराने को मर्मभेदी आँसू,

मैं रो पड़ा जब मुझे याद आया कि कितनी बार मैं और तुम
अपनी बातों से सूर्य को भी थका देते और उसे अस्ताचल पहुँचा देते थे।

और अब जब तुम पड़े हो, मेरे प्रिय पुराने अतिथि,
मुट्ठी भर यह भूरी राख जो बहुत पहले सो चुकी है;
अभी भी तुम्हारे मधुर स्वर, बुलबुलों की सी तुम्हारी आवाज, जग रही है,

मृत्यु सब कुछ छीन सकती है पर इन्हें नहीं-नहीं छीन सकती।।२

वड्सवर्थ की कविता में भाव संकेन्द्रित रूप में प्रस्तुत हुआ है। कहा जा चुका है कि संकेन्द्रण दुःखान्तक का सार होता है और संप्रेष्यमाण भाव को अतुलनीय शक्ति प्रदान करता है। अनुभूति में सम्बद्ध और अनिवार्य पक्षों का स्पष्ट ही संवेदनपूर्ण निर्वाचन हुआ है। इन पक्षों में एक प्रकार का वैषम्य, संभवतः संघर्ष भी, अन्तर्निहित है और उसके साथ जो सर्वथा अस्वीकार्य और दुर्दम्य शोक है उसकी दृढ़ स्वीकृति में संघर्ष का

सुलझाव भी वर्त्तमान है। वह शोक अत्यन्त वास्तविक और मर्मभेदी है किन्तु कवि की भावना उससे अभिभूत नहीं होती बल्कि शोक के ऊपर विजय प्राप्त करती है और यह विजय, जो मूलतः वर्ड्सवर्थ की भावना की विजय है, हमारे लिए समग्र मानवीय भावना की विजय का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इस शोक के समक्ष होने पर भी वर्ड्सवर्थ अपने को इससे अलग कर लेता है जैसा किसी भी महान् कवि को अपनी अनुभूति से अपने को अलग करना पड़ता है। वैयक्तिकता से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद किये बिना भी इसमें वैयक्तिकता के उन तत्त्वों का परिहार हो जाता है जो अपरिचित कानों को खटकते हैं; कवि के हाथों में इसकी स्थिति कच्चे माल के समान होती है जिसमें स्वयं ढलने के बदले वह उसे अपनी इच्छा के अनुसार ढाल लेता है। इसमें एक प्रकार का मानसिक और रागात्मक अनुशासन अन्तर्निहित है, साथ ही विवेचनपूर्ण अवधान और प्रेरक इच्छा भी वर्तमान है जिनके बिना सफलता आकाश-कुसुम ही बनी रहती।

यहाँ मनोवेग की सीधी अभिव्यंजना नहीं है; यह कोई मरसिया या शोकगीत नहीं है जैसा नीचे की पंक्तियों में पाते हैं:

> लिसिडस के लिए कौन नहीं गाएगा ?
> वह स्वयं गाना और उदात्त पदों की रचना करना जानता था।
> उसे जल की अरथी पर तैरते छोड़ देना उचित नहीं
> और न अविलपित शुष्क हवा पर लोटने देना ही,
> कुछ मंजुल अश्रुओं के पुरस्कार बिना।

वस्तुतः यह अँगरेजी की किसी दूसरी कविता के समान भी नहीं है।

वर्ड्सवर्थ का वाक्संयम और भावों की प्रत्यक्ष अभिव्यंजना से विमुखता उसके मानसिक अनुशासन का परिणाम है और जिसकी भव्यता प्रायः अति-मानवीय है। दोनों छन्दों में, जिनका वैषम्य ऊपर प्रदर्शित है, रमणीय स्वप्न और भयंकर जागरण प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु कवि ने टिप्पणी के रूप में एक शब्द भी नहीं कहा है और न उसमें अनपेक्षित तत्त्व का गुम्फन है। वस्तुतः यह वाक्संयम वर्ड्सवर्थ के भावों का, विस्तृत व्याख्या से कहीं बढ़कर, मुखर व्यंजक हुआ है। यह मुखर वाक्संयम और इसमें निहित व्यंग्य, शान्त स्वर, नियंत्रित लय और रागात्मक दृष्टि से अनुर्वर, तथा कभी-कभी जानबूझ कर प्रयुक्त नीरस बिम्ब-विधान भावना को स्पष्ट और प्रभिन्न

(डिस्टिंग्विश्ड) रूप प्रदान करते हैं और वह रूप ही इसे निर्वैयक्तिक और स्थायी बना देता है।

पहले स्वप्न आता है। 'निद्रा' शब्द का प्रयोग यहाँ बड़ा ही सार्थक है और पहली पंक्ति का कोमल, सौम्य, उपांशु (व्हिस्परिंग) संगीत सर्वथा समुचित है। अतः स्वप्न का प्रभाव पहली ही पंक्ति में अधिगत हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा बिना कोई हीला-हवाला किये प्रत्येक वस्तु को स्वीकार कर लेता है उसी प्रकार वर्ड्सवर्थ भी लूसी की अमरता की धारणा को स्वीकार किये हुए प्रतीत होता है; वस्तुतः उसने लूसी को मृत्यु से सम्बद्ध किया ही नहीं था। 'मानवीय' और 'पार्थिव' जैसे शब्द आपाततः अनपेक्षित लगते हैं और 'वस्तु' शब्द भी अप्रत्याशित, असंगत दीखता है। फिर भी ये शब्द स्वारस्य से पूर्ण हैं और वैषम्य के द्वारा एक अतिमानवीय, स्वर्गिक, 'अनन्त जीवन' की व्यंजना कराते हैं जिन्हें हम लूसी से सम्बद्ध कर पाते हैं। इनके द्वारा वर्ड्सवर्थ की अभिवृत्ति और जागरण के पूर्व उसके आनन्द की स्थिति का निर्धारण करने में भी हमें सहायता मिलती है।

अब जागरण को लीजिए। जो लूसी पार्थिव वर्षों का स्पर्श भी सहन नहीं कर सकती थी उससे कहीं अधिक भयंकर और कुचल डालनेवाले भार को उसे सहन करना पड़ गया है। वर्ड्सवर्थ लूसी की मृत्यु का उल्लेख नहीं करता, संभवतः कर नहीं सकता। वह केवल कुछ परिवर्त्तनों का निर्देश करता है—जैसे गति का लोप, बल का लोप, दृष्टि का लोप, श्रम का लोप और ये परिवर्त्तन जितने आकस्मिक हैं, उतने ही प्रचण्ड और उसका चरम बिन्दु अन्त में आता है :

> पृथ्वी की दैनिक गति में लिपट गयी है
> चट्टानों, पत्थरों और पेड़ों के साथ।

दूसरा छन्द उसी शान्त स्वर में नहीं पढ़ा जा सकता जिसमें पहला। इस छन्द में ऊष्म वर्णों का स्पष्ट आधिक्य है और इसमें प्रयुक्त आघात भी सबल है। प्रायः ऐसा लगता है कि वर्ड्सवर्थ दाँत कटकटा रहा हो और शब्द कटकटकर निकल रहे हों। भीतर उबलनेवाले भावों की हलचल सतह पर आ जाती है और वहाँ हम उस उबाल को अच्छी तरह देख सकते हैं। सतह आन्दोलित तो हो जाती है किन्तु टूटती नहीं और फिर शान्ति प्रतिष्ठित हो जाती है। इस अवसर पर वर्ड्सवर्थ के अतिमानवीय नियंत्रण का

संभवतः सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हमें मिलता है। दूसरे छन्द का लयात्मक ढाँचा पहले ही जैसा है, फिर भी बिलकुल वही नहीं है। यह ढाँचा भाव के दबाव में टूटता हुआ प्रतीत होता है किन्तु टूटता नहीं। हम वर्ड्सवर्थ के अशान्त भावों की—उसके रस, कटुता, घृणा, विद्रोह, भ्रममुक्ति, मानसिक आघात की—झाँकी पाते हैं और फिर दूसरे ही क्षण भावना शान्त हो जाती है और अपने भार को स्वीकार कर लेती है मानो किसी अलक्ष्य शक्ति ने उसे शान्त होने का आदेश दिया हो और वह शान्त हो गयी हो। परन्तु हम जानते हैं कि वह आदेश किसी श्रेष्ठ शक्ति से नहीं आता, वह उसकी अपनी अजेय भावना से ही आता है।

कोरी की कविता के सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक है क्योंकि वह और चाहे जो भी हो, अच्छी कविता नहीं है। वह बिलकुल स्पष्ट विलाप है, उसमें कोई वाक्-संयम अथवा नियंत्रण नहीं है। उसमें भाव की तीव्रता भी नहीं है, केवल भाव का आभास है और संभवतः सारे आभासों की तरह वह केवल भ्रम है। कवि स्पष्ट ही भावुक हो गया है। उसकी वाणी अश्रुसिक्त है और वह भावुकता में रस ले रहा है। अपने मित्र की मृत्यु के विचार में उसे एक प्रकार का आनन्द मिल रहा है—मृत्युवाली बात अनेक बार कही गयी है और साथ ही मृत मित्र की याद दिलानेवाली बातों का भी विस्तार से उल्लेख है। मृत्यु के साथ याद दिलानेवाली बातों का भी मिश्रण है। अतीत की स्मृति कविता की भावुकता को और भी बढ़ा देती है। बिम्ब और विशेषकर स्निग्ध, शान्त, प्रवाहपूर्ण लय दोनों मिलकर उस भावुकता को अच्छी तरह उभार कर रख देते हैं जो कवि की अभिवृत्ति के मूल में वर्तमान है। व्याकरणिक विरामों के बावजद पंक्तियों की गति शिथिल नहीं होती; कवि लय के स्निग्ध प्रवाह में बहने के लिए अपने-आपको छोड़ देता है और उसके लिए हमें भी आमंत्रित करता है।

मूल्यवान् अनुभूति का सफल संप्रेषण अच्छी कविता की परख है किन्तु जब संप्रेषणीय वस्तु सस्ती और साधारण हो (जो हेराक्लितुस में वर्त्तमान है) तो मूल्य का प्रश्न ही नहीं उठता। वर्ड्सवर्थ की कविता में हम भाव की गंभीरता पाते हैं जो महत्ता का लक्षण है क्योंकि जहाँ गंभीरता, विस्तार या समृद्ध संश्लिष्टता रहती है वहाँ महत्ता की स्थिति हुआ करती है। और यह महत्ता कविता में रहती है; यह ऐसी चीज नहीं जो पाठक के वहम पर

निर्भर हो। सिरिल बर्ट ने सौन्दर्य के विषय में जो कहा है, वह महत्ता पर भी लागू है क्योंकि वह भी सौन्दर्य का ही एक रूप है। "यदि सौन्दर्य-चेतना थोड़ी या बहुत सर्वव्यापी है और यदि वह सबों में एक ही रूप में काम करती है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सौन्दर्य व्यक्तिगत अभिरुचि या वहम पर सर्वथा निर्भर नहीं है। वस्तुतः आधुनिक दार्शनिक प्राचीन दृष्टिकोण को ही अपनाता दीखता है कि सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ होता है या कम-से-कम यह तो है ही कि मूल्य के निर्णय विश्वव्यापी रूप में युक्तिसंगत हैं। मैं समझता हूँ कि अन्ततः मनोविज्ञानी को इससे सहमत होना पड़ेगा। हम सौन्दर्य देखते हैं चूँकि वह देखने को है। सौन्दर्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका अपने मन में हम आविष्कार कर कल्पना कर लेते हों; वह ऐसी वस्तु है जिसका हम अनुभव करते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि सौन्दर्य वस्तु में रहता है।"[९]

इसी तरह हम महत्ता भी इसलिए देखते हैं कि वह देखने को है, उसकी स्थिति कविता में रहती है। वह ऐसी वस्तु नहीं जिसका हम आविष्कार या कल्पना कर लेते हों। बर्ट का एक दूसरा संदर्भ भी उद्धृत किया जा सकता है जो कविता पर लागू है : "हमारी सौन्दर्य-चेतना अनिवार्यतः वस्तुओं के प्रत्यक्ष पर निर्भर करती है अथवा सम्बद्ध संवेदनों—आकृतियों, रंगों, ध्वनियों; यहाँ तक कि घटनाओं और भावों—पर भी। सम्बन्ध भी स्वयं सम्बद्ध हो सकते हैं और कलाकृतियों में हम उसे ही पाते हैं। सम्बन्धों का ऐसा जाल, जो अपने-आपमें सम्बद्ध है, एक विशेष प्रकार का साँचा या योजना निर्मित करता है और सौन्दर्य के सार का निर्माण सुनिश्चित, संरचनात्मक साँचे अथवा क्रम और विन्यास से होता है जो कृत्रिम और आरोपित न होकर सहज और सजीव हो।"[१०] वर्ड्सवर्थ की कविता में स्पष्ट संरचनात्मक साँचा है, क्रम और शृंखला है जो कृत्रिम या आरोपित नहीं, बल्कि सहज और सजीव है। दूसरे छन्द में स्पष्ट ही पहले के ढाँचे की आवृत्ति है और उसी ढाँचे की आवृत्ति दोनों भागों को परस्पर सम्बद्ध कर देती है। आवृत्ति के द्वारा व्यंग्य, विरोध तथा वैषम्यमूलक भाव बहुत तीव्रता तथा अत्यन्त संक्षिप्तता से उभर कर सामने आ जाते हैं और इनमें प्रत्येक भाग अत्यधिक प्रभावशाली है क्योंकि वह विच्छिन्न न होकर परस्पर सम्बद्ध है। सम्बन्धों का यह जाल कविता के सभी विवरणों को एक समरस साँचे में अनुस्यूत कर देता है जिसमें

प्रत्येक विवरण सामान्य साँचे की प्रभविष्णुता में योगदान करता रहता है। ऊपर से देखने में कविता बड़ी सरल है किन्तु सरसरी निगाह से भी परखने पर उसकी संश्लिष्टता, कोमल संतुलन, सूक्ष्म जटिल बिम्ब-विधान और व्यंजनाएँ तथा रमणीय विरोधी अभिवृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। उसका विकास इतना स्वाभाविक और अनिवार्य है कि पहली पंक्ति में ही आगे के विकास का संकेत मिलता जाता है--सहचारी स्वप्न के साथ निद्रा देर या सवेर समाप्त होनी ही थी; जागरण भी अनिवार्य था।

कविता को पढ़ना ऐसी चीज नहीं जिसे हम अपने जीवन के शेष भाग से अलग कर सकें। यह बात भी नहीं है कि उससे हमारी संवेदनशीलता में अन्तर आता हो या वह हममें स्थायी परिवर्त्तन ला देती हो जो परिवर्त्तन भला है। हमने देखा है कि मनुष्य पशुओं से कई बातों में भिन्न है। उनमें एक यह भी है कि वह केवल संस्कृति की अवस्था में ही रह सकता है। उसने अपने लिए आध्यात्मिक मूल्य की एक पद्धति विकसित कर ली है जिसके बिना वह नहीं रह सकता। ये मूल्य अनपेक्षित अनुबन्ध (अपेण्डेज) या अलंकरण नहीं हैं, ये जैविक आवश्यकता की अभिव्यक्ति हैं। ये आध्यात्मिक मूल्य धर्म, नैतिकता और कला द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। धर्म, कला और नैतिकता मानव-प्रकृति को सन्तुष्टि प्रदान करती हैं; वे परस्पर असम्बद्ध या विरोधी नहीं, बल्कि अन्तःसम्बद्ध हैं। खास-खास धर्म या नैतिकता की संहिताएँ परस्पर विरोधी या अपवर्जी (एक्सक्लूसिव) हो सकती हैं किन्तु धर्म और नैतिकता सर्वव्यापी मानवीय आवश्यकताओं के अंग हैं, स्थानीय अथवा जातीय वैशिष्ट्य मात्र नहीं। मनोविश्लेषक कुछ भी कहें, मनुष्य में पूर्णता की ओर बढ़ने का नैसर्गिक संवेग होता है। मनुष्य आन्तरिक सामरस्य ढूँढ़ता है और वह अपने तथा विश्व के बीच भी सामरस्य स्थापित करना चाहता है। कोई भी वस्तु जो इस आन्तरिक सामरस्य की प्राप्ति में बाधक बनती है अथवा विश्व के साथ उसके सम्बन्ध को कठिन बनाती है, उसके लिए मूल्यवान् नहीं हो सकती। नैतिक संहिताएँ और मतविशेष पुराने पड़ सकते हैं; यह भी हो सकता है कि ये उसे संतुष्टि प्रदान न करें किन्तु नैतिकता और धर्म की आवश्यकता बनी रहेगी। विशिष्ट कलाकृतियाँ कभी पुरानी नहीं पड़तीं, वे सदा नयी बनी रहती हैं; साथ ही, पूर्णता की ओर बढ़ने के संवेग की विद्यमानता और स्थायिता का वे अखण्डनीय प्रमाण भी

प्रस्तुत करती हैं। कलाकार अपनी वस्तु को अपूर्ण से पूर्ण रूप में परिणत करता है और साध्यों की पद्धति के रूप में समावेशित होने की क्षमता कलाओं में वर्त्तमान है; वे इस पद्धति का अनिवार्य, संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण, अंग हैं। हमारे साध्यों की इस पद्धति या योजना से कलाओं को अलग नहीं किया जा सकता। किसी भी कलाकृति का आस्वादन अपने-आपमें और अपने-आपके लिए संभव नहीं है। थोड़ी देर के लिए हम जादू के घेरे में खड़े हो सकते हैं; अपने सामने विद्यमान सौन्दर्य के आस्वादन पर अपने को केन्द्रित भी कर सकते हैं किन्तु यह आस्वादन या आनन्द, जिसे हम प्राप्त करते हैं, ऐसा होना चाहिए जो हमारी प्रकृति द्वारा वांछित उच्चतर संतुष्टियों में विलीन हो सके तथा उसे बढ़ा सके।

१. पर्सेप्शन एण्ड ईस्थेटिक वैल्यू।

२. मॉडर्न पेण्टर्स।

३. द ब्यूटी एण्ड अदर फॉर्म्स ऑफ वैल्यू।

४. वही।

५. द प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म।

६. थियरी ऑफ पोइट्री।

७. पर्सेप्शन एण्ड ईस्थेटिक वैल्यू।

८. ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री।

९. हाउ द माइण्ड वर्क्स।

१०. वही।

90

साहित्यिक दृष्टि

अब तक मनोविश्लेषण के दावों की पर्याप्त परीक्षा की जा चुकी है और उनका खोखलापन प्रमाणित किया जा चुका है। साहित्य का आलोचक संकीर्ण मनोवृत्ति का नहीं होता और न किसी नये आविष्कार से वह आतंकित होता है। किसी नवीन विज्ञान से मुँह मोड़कर वह भाग नहीं खड़ा होता। वह समस्त ज्ञान को अपना क्षेत्र मानता है। यह उसकी उत्तरदायित्वहीन, दृप्त महत्त्वाकांक्षा का परिणाम नहीं, बल्कि उसके कार्य का आवश्यक अंग है। साहित्य मानवीय ज्ञान और क्रियाओं से अनन्त स्थलों पर संबद्ध है और आलोचक अपना कर्त्तव्य तब तक संतोषप्रद रूप में पूरा नहीं कर सकता जब तक उसे व्यापक दृष्टि और विस्तृत बोध न हो। निश्चय ही मानवीय प्रचेष्टा के प्रत्येक विभाग का उसे वह परिचय और ज्ञान नहीं हो सकता जो विशेषज्ञ को होता है। वह इस असंभव उपलब्धि को पाने की इच्छा भी नहीं रखता। हाँ, संसार की प्रत्येक वस्तु में उसकी अभिरुचि अवश्य रहती है और अपनी विशिष्ट विवेचकता के द्वारा वह संगत को असंगत से, उपयोगी को अनुपयोगी से तथा मूल्यवान् को मूल्यहीन से पृथक् करने में समर्थ होता है। किसी नये आविष्कार या नये विज्ञान से मुँह मोड़ने के बदले प्रत्येक नये आविष्कार या विज्ञान का, आलोचना के हित में, वह स्वागत करता है किन्तु उसकी दृष्टि इतनी स्पष्ट होती है कि वह मिथ्याडंबरों के घपले में नहीं पड़ सकता।

मनोविश्लेषण में सचाई से अधिक आडंबर है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसे बिलकुल निरर्थक कहकर टाल दिया जाए। संभवतः उसका उचित स्थान भी है और उपयोग भी, किन्तु निश्चित ही उसमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे साहित्य का आलोचक लाभान्वित हो सके या जो वस्तुतः मूल्यवान् हो। उसकी सबसे बड़ी असफलता यह है कि वह अपनी सीमा और उपयोग को ठीक से नहीं समझ पाता। वह प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में सब कुछ कहने का आडंबर रचता है जो स्पष्ट ही व्यर्थ का प्रयास है। वह आलोचक को उसका कर्त्तव्य सिखाने का दावा करता है, साथ ही विश्व के रहस्यों के उद्घाटन की

महत्त्वाकांक्षा का भी। वह मनस्तापी के लिए सच्चा सहायक हो सकता है किन्तु इस उपयोगी लेकिन सीमित कार्य से उसे संतोष नहीं। उसकी महत्त्वाकांक्षा इससे बड़ी है और यह महत्त्वाकांक्षा ही उसकी अग्राह्यता का कारण है।

हमने देखा है कि मनोविश्लेषक के पास कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे आलोचक को लाभ हो। उसके सामान्य सिद्धान्त अस्वीकार्य हैं। कलाकार मनस्तापी नहीं होता और न कला उदात्तीकरण अथवा क्षतिपूर्त्ति का प्रकार ही है। जब मनोविश्लेषक सिद्धान्त से व्यवहार की सीमा में आता है तो उसकी बातें असंगत और भ्रामक सिद्ध होती हैं। अचेतन के सम्बन्ध में यदि वह कुछ कहता है तो उसका मूल्य हो सकता है किन्तु यहाँ भी वह गलत बातों पर बल देने लगता है और अपने जोश में ऐसी बातें कह जाता है जिन्हें स्वीकार करना हमारे लिए कठिन है। कभी-कभी उसमें अन्तर्दृष्टि के वैसे क्षण भी दिखायी देते हैं जो अचेतन से परिचय के कारण उसे प्राप्त होते हैं किन्तु अन्तर्दृष्टि के उन क्षणों का भी वह प्रायः दुरुपयोग करता है, क्योंकि दमनों और ग्रन्थियों में उसकी जो सतत अभिरुचि है उससे उसकी बुद्धि पक्षपात-ग्रस्त हो जाती है। जो प्रकृत्या स्वस्थ है उसे चिकित्सक की आवश्यकता नहीं। कला मानवीय स्वस्थता और प्राकृतिकता का चित्रण है, मनस्ताप का नहीं और इसलिए मनोविश्लेषक के लिए उसका उपयोग प्रायः नहीं है। जब कला अस्वस्थ हो जाती है, जब वह वस्तुतः मनस्तापी हो जाती है तो मनोविश्लेषण इस अंश में सहायक हो सकता है कि मनस्ताप के विशिष्ट लक्षणों और उसके मूल कारणों को बता सके। किन्तु मनोविश्लेषक की सहायता के बिना भी आलोचक अस्वास्थ्य के लक्षणों को स्वयं पहचान ले सकता है और अन्तर्निहित दोषों को ढूँढ़ निकालना उसकी सीमा के बाहर है।

कहा जा चुका है कि आलोचना का कार्य अनुभूतियों की तुलना एवं मूल्यांकन है। यह ऐसी चीज है जिसे मनोविश्लेषण बिलकुल ही नहीं कर सकता। मूल्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आलोचक का जो प्रमुख कार्य है उसमें वह उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता। यदि वह सहायता कर भी सकता है तो अप्रत्यक्ष और आकस्मिक रूप से ही। अपने कार्यों के सम्पादन में सफलता प्राप्त करने के लिए आलोचक को अपने ऊपर ही निर्भर करना पड़ता है। बोदुएँ कला के जिस तथाकथित मनोविज्ञान तथा आलोचना के विज्ञान की चर्चा करता है वह साहित्यिक

आलोचना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। विज्ञान के छद्म-वेश में वह आलोचक को केवल भ्रम में डाल सकता है और ठगविद्या को प्रोत्साहित कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य या आलोचना के जो शत्रु हैं उनमें ठगविद्या का स्थान सबसे ऊँचा है। बौद्धिक अनर्थ का, विशेषकर आलोचना के क्षेत्र में, ठगविद्या से बढ़कर कोई दूसरा कारण नहीं होता।

आलोचक का पहला सम्बन्ध शब्दों से है क्योंकि वह शब्दों के बीच और शब्दों के द्वारा ही अपना काम करता है। वह अपने शब्दों में ऐसी विशेषताओं को समाहित कर देता है जो उनके व्यावहारिक प्रयोग के समय उनमें नहीं होते। शब्दों में केवल अर्थ ही नहीं होते अर्थात् उनसे केवल वस्तुओं का बोध ही नहीं होता; वस्तुओं के संकेत से हटकर उनका महत्त्व इस बात में है कि वे चिन्तन के विषय बन जाते हैं। एलेक्ज़ाण्डर ने लिखा है—"दैनिक भाषा में जो अर्थ शब्द की ध्वनि के साथ लगा होता है, वही कला में उन ध्वनियों के साथ मिल जाता है या उनमें लीन हो जाता है। ध्वनियों में केवल अर्थ ही नहीं होता अर्थात् वे केवल वस्तुओं का बोध ही नहीं कराते, बल्कि वे अपने अर्थ के साथ अभेद्य रूप से एकात्म हो जाते हैं। शब्द या दूसरे अभिव्यंजक तत्त्व कला के उपादान तब बनते हैं जब वे उन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त नहीं होते जिनका उनसे बोध होता है, बल्कि जब वे अपने-आपके लिए प्रयुक्त होते हैं। भाषा सौन्दर्यसम्पन्न तभी होती है जब वह स्वयं विषय बन जाती है और अर्थ के साथ एकात्म होकर वक्ता के सामने प्रकट होती है। वह स्वयं वह वस्तु बन जाती है जिसने मन पर अधिकार कर रखा है और तब उसका अर्थ उससे भिन्न नहीं होता, बल्कि वह उससे एकाकार हो जाती है।"[१]

साहित्यस्रष्टा किस प्रकार अपने शब्दों का प्रयोग करता है तथा उनकी संभावनाएँ और सीमाएँ क्या हैं, इससे आलोचक को अवगत होना चाहिए। उनके मूल्य के प्रति उसे उतना ही संवेदनशील होना चाहिए जितना कलाकार स्वयं होता है। इस संवेदनशीलता के बिना वह वैसे ही असहाय है जैसे तट पर टकराती हुई तरंग। और, यह संवेदनशीलता ही वह चीज है जिसका ज्ञान मनोविश्लेषकों को जरा भी नहीं होता। कहने का अभिप्राय यह कि साहित्य-स्रष्टा के समान ही आलोचक की भी अभिरुचि शब्दों में अपने-आपके लिए होनी चाहिए। वह शब्दों के अन्तर्निहित मूल्य की अनुभूति से आनन्दित होता

है और निर्वैयक्तिक रूप में उनके सौन्दर्य का चिन्तन करता है। शब्दों का
साधारण अर्थ अथवा अभ्युद्देशनात्मक प्रयोग, जिसे हम दैनिक संप्रेषण में
देखते हैं, उसके लिए अनपेक्षित हो जाता है। महत्त्व की बात यह है कि
कविता में वे किस रूप में प्रयुक्त हुए हैं या कवि ने किस रूप में उनमें
सजीवता भर दी है। कविता में शब्द ध्वनिमात्र नहीं रह जाते, बल्कि नूतन और
विस्मयकारी रूप में सप्राण हो जाते हैं जैसे कोई मूर्त्ति सजीव हो उठती है।

कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द सजीव हो उठते हैं अर्थात् उनमें नयी अर्थवत्ता
आ जाती है जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध, अधिक सूक्ष्म और
अधिक मूल्यवान् होती है। एलेक्ज़ाण्डर के अनुसार, "कलाकार अपने शब्दों में,
या उनमें से कुछ में, ऐसा अर्थ भर देता है जो उनमें स्वयं नहीं रहता। यह
विरोधाभास भले ही लगे किन्तु है बात सही कि कला में शब्दों में वे गुण
आ जाते हैं जो उनमें रहते नहीं। मूर्त्ति में परिणत होकर निष्प्राण संगमरमर
कितना सजीव हो उठता है! कभी तो वे गुण केवल शब्द में रहते हैं, कभी
वाक्यखण्ड में और कभी पूरी कविता में। वह प्रभाव मुख्यतः शब्दों के मेल
और प्रवाह से उत्पन्न होता है। इसमें संदेह नहीं कि कविता में प्रयुक्त शब्द
अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर सर्वथा नये बन जाते हैं। यदि वे जादू करते
हैं तो उनपर भी जादू हो चुका होता है।" अन्तिम वाक्य में गंभीर सत्य
अभिव्यक्त है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कविता में भी शब्दों का प्रयोग दो
प्रकार का होता है—एक तो वह, जिसका जादू असली होता है और दूसरा
वह, जिसका नकली।

आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह शब्दों के इन विभिन्न रूपों—असली
और नकली जादू—का पार्थक्य स्पष्ट कर सके। उसे नकली किस्म के प्रभाव
में नहीं आना चाहिए। अन्य क्षेत्रों के समान इस क्षेत्र में भी ऐसे बहुत सारे
लोग मिलेंगे जो आडंबर फैलाएँगे; थोड़े ही लोग ऐसे हैं जिनका मार्ग
असली होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि असली की अपेक्षा नकली चीज
ज्यादा भड़कीली होती है। इसलिए जिनमें आलोचक की विशिष्ट क्षमता नहीं
है वे आडंबर के प्रभाव में अधिक आसानी से पड़ जा सकते हैं। अनभ्यस्त
पाठकों में एक दूसरी भी त्रुटि होती है। कलाकार ने किस रूप में शब्दों
पर अपना जादू डाला है इसे समझने और इसकी गहराई में जाने के बदले

वे स्वयं उन शब्दों के जादू के प्रभाव में आ जाते हैं और इस प्रकार उस आनन्द से हाथ धो बैठते हैं जो जादू को देखते समय होता है। आलोचक जादू का आनन्द उठाता है मगर उसकी शक्ति से स्वयं अभिभूत नहीं होता; वह उस जादू का रहस्य कलाकार से बलात् प्राप्त कर लेता है और उसे दूसरों के सामने अभिव्यक्त कर देता है।

आलोचक आरम्भ तो शब्दों से ही करता है किन्तु वहीं नहीं रुक जाता। शब्दों के जादू से बहुत लिपटे रहने के कारण आलोचना अधिकतर शाब्दिक हो जाती है। शब्दों का महत्त्व इसलिए है कि वे वह माध्यम हैं जिनके द्वारा कवि रचना करता है किन्तु माध्यम तो केवल माध्यम ही है, वह वस्तु नहीं जिसे कवि निर्मित अथवा संप्रेषित करने का प्रयास करता है। आलोचक की अभिरुचि सम्पूर्ण कलात्मक सृष्टि में होती है, केवल माध्यम में नहीं और न विच्छिन्न शब्दों या वाक्यांशों के आनन्द में, चाहे वे कितने भी आकर्षक क्यों न हों। परस्पर विच्छिन्न वाक्यांशों का सौन्दर्य देखना ही पर्याप्त नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह देखना है कि वे कैसे सम्पूर्ण सौन्दर्य में विलीन हो जाते हैं और उसकी वृद्धि में योगदान करते हैं। एक-एक विवरण के साथ सम्पूर्ण सौन्दर्य का रस-ग्रहण करना और कविता के संश्लिष्ट एवं समृद्ध अभिकल्प (डिज़ाइन) के अन्तिम चिन्तन में प्रत्येक विवरण के सौन्दर्य से अवगत होना कवि का लक्ष्य है।

कविता का अन्तर्निहित मूल्य अर्थात् वह अपने आप में क्या है, वह मूल्य, जो रूप और वस्तु के पूर्ण समन्वय से उत्पन्न होता है, उस मूल्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है जो पृथक्-पृथक् विवरणों में रहता है; और आलोचक का कार्य है उस मूल्य का निर्धारण। यदि आलोचक अपना कार्य जानता है तो वह इसे आसानी से कर सकता है। इसके प्रतिकूल मनोविश्लेषक यहाँ बिलकुल खो जाएगा और सही या गलत रूप में वह कवि की ग्रन्थियों एवं दमनों तक तो पहुँच सकता है किन्तु कलाकृति का मूल्य उसकी पकड़ में कभी नहीं आ सकता। यह भी हो सकता है कि वह किसी असफल कलाकृति का ऊँचा मूल्य आँक ले क्योंकि इससे उसे कवि के व्यक्तित्व को गहराई से समझने का अवसर मिलता है और यह सर्वथा भूल जाए कि वह कृति कला के रूप में बिलकुल असफल है। तात्पर्य कि आलोचक को कलाकृति के अन्तर्निहित मूल्य के निर्धारण का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही, उसे इस

बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह उसे विच्छिन्न तत्त्वों के रूप में नहीं देखे जो दूसरे मानवीय मूल्यों से पृथक् रह जाएँ। यह उसका अन्तिम और सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वह किसी कलाकृति को अन्य मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध करके देखे और मनुष्य ने अपने लिए जिन समृद्ध और संश्लिष्ट मूल्य-पद्धतियों का निर्माण किया है और जिनके बिना वह नहीं रह सकता, उनके बीच उस कलाकृति का उचित और निश्चित स्थान बताए।

◆ ◆ ◆

१. ब्यूटी एण्ड अदर फॉर्म्स ऑफ वैल्यू
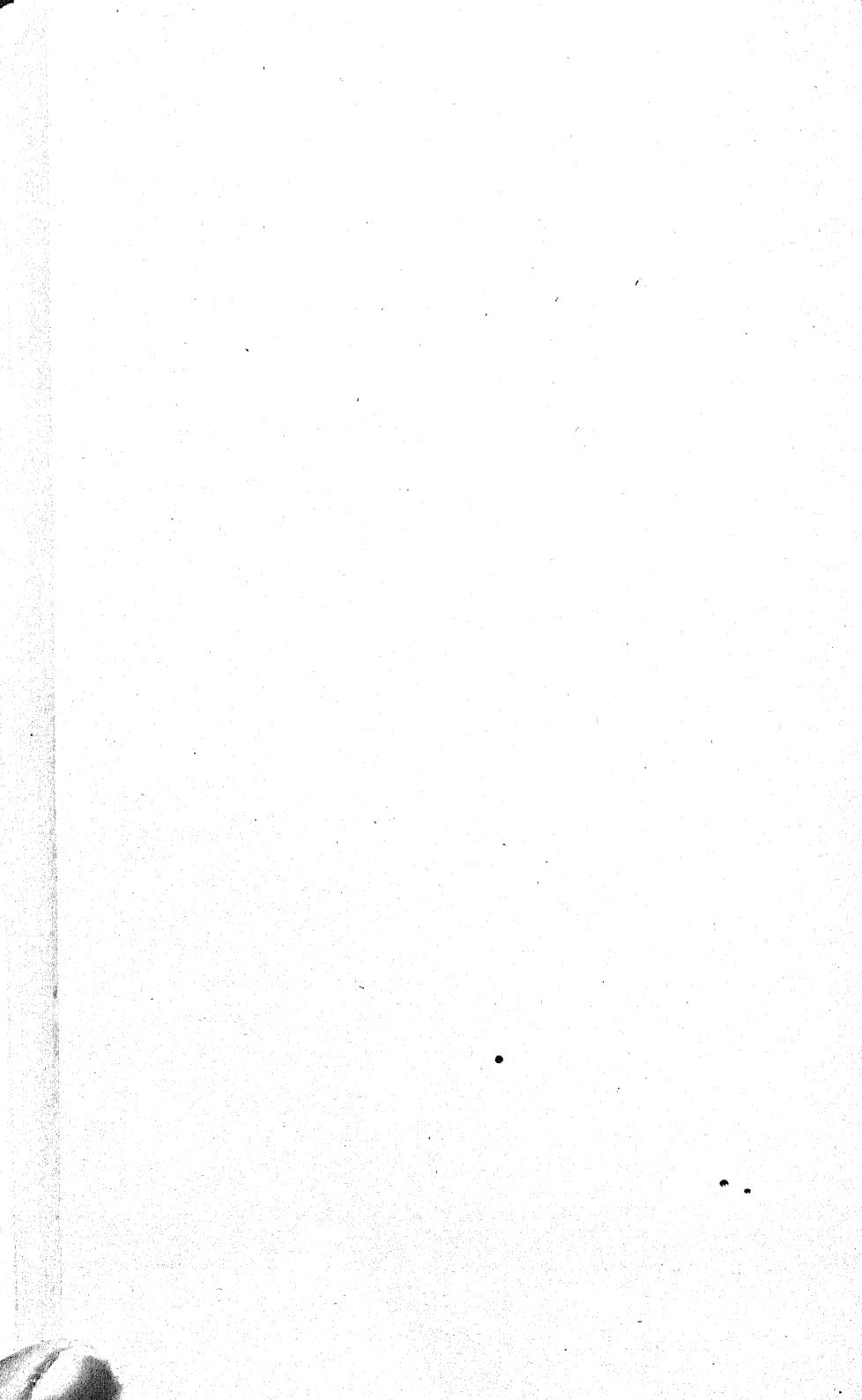
परिशिष्ट १

ग्रंथ में आये कतिपय नामों का परिचय

ईडिपस ग्रंथि— ईडिपस नामक एक यूनानी था, जिसने अपने पिता को मारकर अपनी माँ से विवाह कर लिया। उसी के नाम पर इस ग्रंथि का नामकरण हुआ है। ईडिपस ग्रंथि का कारण है माँ के प्रति यौन आकर्षण और उसकी अतृप्ति।

एजेक्स— यूनान का एक महान् वीर, जिसने ओदिसियस से युद्ध में पराजित होने पर आत्महत्या कर ली।

एन्शेण्ट मैरिनर— एस० टी० कोलरिज (१७७२-१८३४) द्वारा लिखी गयी एक लम्बी कविता, जिसका नायक भयानक प्राकृतिक और दैवी अनुभवों से गुजर चुका है और अपने अनुभव उत्सुक श्रोता को सुनाता है।

एम्पेदोक्लिस (४९०-४३० ई० पू०)— यूनानी दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ।

ऐडलर, अल्फ्रेड (१८७०-१९३७)— ऑस्ट्रिया का मनोविज्ञानी और मनश्चिकित्सक। पहले फ्रायड का सहयोगी, परन्तु बाद में अलग होकर व्यष्टिमनोविज्ञान-समिति (सोसाइटी फॉर इण्डिविजुअल साइकॉलॉजी) की स्थापना की। ऐडलर का मत था कि सामाजिक कुसमायोजन का कारण हीन-भावना (हीनता-ग्रंथि) है।

कीट्स, जॉन (१७९५-१८२१)— अँगरेजी का प्रमुख और प्रसिद्ध रोमाण्टिक कवि।

कुबला खाँ— चंगेज खाँ का वंशज, एक मंगोल शासक। इसने चीन की विजय पूरी की और युआन वंश की स्थापना की। कला में इसकी अभिरुचि थी और इसके दरबार में कुस्तुन्तुनिया और वेनिस जैसे दूरस्थ देशों से यात्री आते थे।

कोर्टेज (१४८५-१५५४)— मेक्सिको पर अधिकार करनेवाला विजेता। वस्तुतः वास्को वालबोआ नामक इस्पानी पोतवाहक ने प्रशांत महासागर का पता लगाया था, कोर्टेज ने नहीं। कहा जाता है कि प्रशांत महासागर का पता २५ सितम्बर, १५१३ को लगा था।

कोलरिज, एस० टी० (१७७२-१८३४)— स्वच्छंदतावादी पुनरुत्थान (रोमाण्टिक रिवाइवल) के नेताओं में अन्यतम। अँगरेजी का ख्यातनामा कवि और आलोचक।

गेटे, योहान व्होल्फ़गाङ् फ़ोन (१७४९-१८३२)— जर्मन कवि, उपन्यासकार और दार्शनिक। समकालीन लोगों में वैज्ञानिक के रूप में भी विख्यात। 'फाउस्त' नामक सुप्रसिद्ध रचना।

डॉन, जॉन (१५७३-१६३१)— युवावस्था में आध्यात्मिक प्रेमकाव्य का और बाद में धार्मिक काव्य का लिखनेवाला अँगरेज कवि।

दमक्रतुस (४६०-३५७ ई० पू०)— यूनान का दार्शनिक जिसे पाँचवीं सदी ई०पू० का 'अरस्तू' कहा जाता है। भ्रमवश कुछ लोग उसे 'हँसता हुआ दार्शनिक' (लाफिंग

फ़िलॉसोफ़र) भी कहते हैं। अणुओं द्वारा पृथ्वी के निर्माण के रासायनिक सिद्धांत और दूरबीन के सिद्धांत का उपस्थापक।

दस्तायेव्स्की, फ़्योदोर (१८२२-१८८१)— तल्स्तोय के बाद रूस का सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार, प्रमुख उपन्यास—अपराध और दंड (क्राइम ऐण्ड पनिशमेंट), मूर्ख (दि इडियट), कर्माज़ोव्ह बंधु (ब्रदर्स कर्माज़ोव्ह) जिनका रूसी और यूरोपीय साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव है।

दि ईव ऑफ सेण्ट एग्निस— कीट्स की एक प्रसिद्ध कविता।

दिदेरो, देनी (१७१३-१७८४)— फ्रांसीसी दार्शनिक एवं लेखक।

पासकल, ब्लेज़ (१६२३-१६६२)— फ्रांसीसी दार्शनिक, गणितज्ञ और भौतिकविज्ञानी, जिसने वायु के दबाव पर अपना प्रयोग किया। प्रथम गणक-यंत्र का आविष्कारक।

प्लूतार्क (४८-१२० ई०)—यूनानी इतिहासकार और जीवनी-लेखक।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०)— यूनानी दार्शनिक। सुकरात का शिष्य और अरस्तू का गुरु। प्रमुख रचनाएँ—रिपब्लिक, सिम्पोज़ियम।

पेत्रार्क (१३०४-१३७४)—इतालवी गीतिकार, विद्वान् और देशभक्त।

पैरेडाइज़ लॉस्ट— अँगरेज कवि जॉन मिल्टन (१६०८-१६७४) द्वारा लिखित महाकाव्य जिसमें मनुष्य द्वारा ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना और उसके परिणामों का वर्णन है।

फाउस्त— जर्मन कवि गेटे द्वारा लिखित प्रसिद्ध नाटक।

बोदुएँ, शार्ल (बीसवीं शताब्दी)— फ्रांसीसी लेखक और मनोविज्ञानी।

बेलेरोफन— एक यूनानी वीर।

मैकबेथ— शेक्सपियर का एक दुःखांतक (ट्रैजेडी), जिसका नायक स्वार्थसाधन के लिए अपने राजा की हत्या करता है। उसे स्वयं भी शांति नहीं मिलती और अंत में वह मारा जाता है।

मोना लिसा— लियोनार्दो दा विंची द्वारा निर्मित फ्लोरेंस की एक महिला का प्रसिद्ध चित्र जिसे 'ला जियोकोंदा' (मुस्कुराती महिला) भी कहते हैं।

मोरो, एम० निकोलस (१८५०-१९१३)— फ्रांसीसी इतिहाससंबंधी चित्रों का निर्माता जिसने पेरिस के फ़ैशनेबल और कलापूर्ण व्यक्तियों तथा लड़ाइयों के चित्र बनाये।

युंग, कार्ल गुस्ताफ़ (१८७५-१९६३)— स्विट्ज़रलैंड का मनोविज्ञानी। विश्लेषक मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी) का प्रतिष्ठापक।

ला बेल दाम साँ मर्सी—कीट्स की एक प्रसिद्ध कविता।

ला मार्तीन (१७९०-१८६९)— फ्रांसीसी कवि, इतिहासकार और राजनेता।

लियोनार्दो दा विंची (१४५२-१५१९)— इतालवी चित्रकार एवं वैज्ञानिक। सर्व-प्रसिद्ध कृतियाँ—मोना लिसा (ला जियोकोंदा) और लास्ट सपर।

लूसी— वर्ड्स्वर्थ की एक प्रसिद्ध कविता।

लोम्ब्रोज़ो, सीज़र (१८३६-१९०९)— प्रसिद्ध इतालवी अपराधशास्त्री। अपराध-मानव-विज्ञान (क्रिमिनल एन्थ्रपॉलॉजी) का संस्थापक।

वर्ड्स्वर्थ, विलियम (१७७०-१८५०)— प्रसिद्ध अँगरेज रोमाण्टिक कवि ।

वेरहेरेन, एमिल (१८५५-१९१६)— बेल्जियम का कवि और आलोचक ।

शेक्सपियर, विलियम (१५६४-१६१६)— सर्वश्रेष्ठ अँगरेज कवि और नाटककार ।

सांटयाना, जॉर्ज (१८६३-१९५२)— अमरीकी दार्शनिक और लेखक ।

सिसेरो, मार्कुस तूलिउस (१०६-४३ ई० पू०)—रोम का राजनेता, लेखक और वक्ता ।

सुकरात (लगभग ४७०-३९९ ई० पू०)— यूनान का दार्शनिक । इतिहासकार जेनोफॉन और दार्शनिक प्लेटो का गुरु ।

सेनेका, लूकिउस अन्नाएउस (ई० पू० ४-६५ ई०)— रोम का राजनेता, दार्शनिक और नाटककार ।

हागेन, वाल्टर (१८९२-)— गोल्फ का अमरीकी खिलाड़ी ।

हैमलेट— शेक्सपियर का दुःखांतक, जिसमें डेनमार्क के राजकुमार की कथा वर्णित है ।

होमर (लगभग १२०० ई० पू०)— प्रसिद्ध यूनानी कवि जिसने इलियद और ओदेसी नामक दो महाकाव्यों की रचना की ।

परिशिष्ट २

पारिभाषिक शब्दावली

हिन्दी-अँगरेजी

अंतरीक्षण—introspection
अंतर्भेदन—intrusion
अंत:पूर—influx
अंधश्रद्धा—fetish
अकालप्रौढ़ता—precocity
अगम्य—inaccessible
अगम्यागमन—incest
अगम्यागामी—incestuous
अग्निकाण्ड—conflagration
अटारी—garret
अणु—molecule
अधिव्यापी—overlapping
अधिवैयक्तिक—super-individual
अधिशेष—surplus
अधिसीम—supraliminal
अनवकलित—undifferentiated
अनुक्रिया—response
अनुबन्ध—appendage
अनुभवसिद्ध नियम—rule-of-thumb method
अनुरूप—consistent
अनुप्रयुक्त—applied
अपकृष्ट—degenerate
अपरचन—malformation
अपरिमित—infinite
अपसामान्य—abnormal
अपक्षय—atrophy
अपेक्षा—exigency
अपूर्ण—unintegrated
अपूर्व—signal
अप्रासंगिक—irrelevant
अबाधित—unencumbered
अभिकल्प—design
अभिनिवेश—persistence
अभिवृत्ति—attitude
अभिक्षमता—aptitude
अराजकता—chaos
अरुचि—aversion
अरुचिकर—unpalatable
अवकलित—differentiated
अवधान—attention
अवयव—component
अवरोध—setback
अवसामान्य—subnormal
अवसीम—subliminal
असंगत—incongruous
असम्बद्ध—incoherent
असमन्वय—inco-ordination
असार—insubstantial
अक्ष—axis
आंतरिक—intrinsic
आकस्मिक—fortuitous
आकारधारण—crystallization
आडम्बरयुक्त—pretentious
आदर्शीकरण—idealisation
आदिम—primordial
आनन्द—felicity
आभास—inkling
आरोप—accusation
आरोह—crescendo
आवर्धित—magnified
आवेग—impulse
आवृत्ति—frequency
आसुरी—demoniacal

उग्र—rampant
उत्तेजक—exciting
उत्तेजन—excitation
उदात्तीकरण—sublimation
उद्दीपन—stimulus
उद्दीपित—stimulated
उद्भावन—uprush
उपजात—bi-product
उपशामक—sedative
उपसिद्धान्त, उपप्रमेय—corollary
उपांग—appurtenance
एकपक्षीय—lopsided
एकीभाव—fusion
औचित्य—propriety
औदार्य—sublimeness
कठोर—inexorable
कामेच्छा—sex-hunger
कुसमायोजन—maladjustment
क्रमविन्यास—collocation
क्रियावृत्ति—conation
क्रियाविधि—mechanism
खिंचाव—strain
गंभीरता—profundity
गठन—texture
गतावधि—out-of-date
गतिमूलक—kinetic
गह्वर—abyss
गूढ़—recondite
चाटुकार—lick-spittle
चित्तप्रकृति—temperament
जड़बुद्धि—imbecile
ठगविद्या—charlatanism
तंत्रिकीय—nervous
तनाव—tension
तल्लीनता—preoccupation
तादात्म्य—identification
ताव—tempo
तीक्ष्णता—acuteness
तुच्छ—puerile
दिखावटी—theatrical
दुर्दम्य—recalcitrant
दुराख्यात—misinterpreted
दैनिक—diurnal
दैवी—oracular
नापना—plumb
निंदनीय—reprehensible
निद्राचारी—somnambulist
नियतत्ववाद—determinism
निरुपाधि—categorical
निरोध—suppression
निश्चित—specific
निष्कारण—gratuitous
निष्क्रिय—morbid
निषेध—negation
निहित—embedded
पक्षधर—champion
पर्यावरण—environment
परस्परसम्बद्ध—correlative
परिरक्षण—preservation
परिणाम—aftermath
पश्चभूमि—hinterland
पुनर्वलन—re-inforcemer
पूर्वचेतन—preconscious
पूर्वनिर्णीत—preconceived
पूर्ववर्ती—precedent
पूर्वसूचना—presentiment
पूर्वाभास—presage
प्रकृतिस्थता—normality
प्रक्षेपण—projection
प्रगल्भता—sophistication
प्रचारण—propagation
प्रच्छन्नता—obscuration
प्रतिवर्त—reflex
प्रतिशोध-भावना—nemesis
प्रतिस्थापन—replace
प्रत्यक्ष—perceptual
प्रत्यावर्तन—reversion
प्रभावग्राही—sensitized
प्रभावी—striking
प्रमात्रा—quantum

प्रयोग—manipulation
प्रबल—dominant
प्रवृत्ति—tendency
प्राक्कल्पना, उपकल्पना—hypothesis
प्रायोगिक—tentative
प्रेरणा—prompting
बाना—woof
बोध—apprehension
ब्रह्माण्ड—macrocosm
भंगी—mode
भव्यता—grandeur
भागग्रहण—participation
भावक—appreciative
भूगर्भी—subterranean
भ्रूणीय—germinal
मत—creed
मनस्ताप—psychoneurosis
मनस्तापी—neurotic
मनोदशा—temper
मनोभाव—mood
मनोमिति—psychometry
मनोविकृति—psychopathy
मनोविक्षिप्ति—psychosis
मनोवैकृतिक—psychopathic
मनोवृत्ति—disposition
मर्मभेदी—soul-shattering
माध्य—average
मानवद्वेषी—misanthropic
युक्तियुक्तता—plausibility
युक्तिहीनता—irrationality
योनि (उपजाति)—species
रागात्मक—affective, emotional
रूढ़—stereotyped
रूपायित—formed
वंशागति—heritage
वाक्‌संयम—reticence
वाग्वैदग्ध्य—e'sprit
वात्याचक्र—whirlwind
व्यावृत्त—twisted
विकृत—grotesque
विकृति—distortion
विचार—idea
विच्छिन्न—isolated
विजेता—conquistador
विधान—scheme
विन्यास—arrangement
विभ्रम—hallucination
विलयन—absorption
विशदीकरण—elucidation
विषमता—angularity
विषादी—melancholic
विसंवादी—discordant
विक्षोभ—ferment
शारीरिक व्यतिक्रम—lesion
शालीन—modest
शिशुशाला—nursery
शैशवकालीन—infantile
शोकगीत—dirge
सनकी—maniacal
सप्राणता—vitality
समुच्चय—assemblage
समंजन—adjustment
समपार्श्वीय—prismatic
सम्पन्नता—exuberance
सम्पादन—performance
समरस—cogent
समापन—consummation
सम्मिलन—coalescence
समावेशित—incorporated
स्तब्ध—stunned
सर्वव्यापी (सार्वभौम)—universal
स्वर—tone
स्वर्णभूमि—dorado
सहजवृत्ति—instinct
सहयोगी—collaborator
सान्द्र—concentrated
साँचा—matrix
सिद्ध—accomplished
स्थिरता—steadiness
सीमा—precinct

सीमित—compassed
सुबोध—comprehensible
सुसंगत—harmonious
सूक्ष्मजगत्—microcosm
सूत्रित—linked
संकल्प—volition
संकेन्द्रण—concentration
संकेन्द्रित—concentrated
संगत—coherent
संचारण—transmission
संयत—sane
संवेग—emotion
संश्लिष्ट—complex
संज्ञान—cognition
संज्ञानात्मक—cognitive
हलचल—tumult
क्षमता—faculty

अँगरेजी-हिन्दी

abnormal—अपसामान्य
absorption—विलयन
abyss—गह्वर
acuteness—तीक्ष्णता
accomplished—सिद्ध
accusation—आरोप
adjustment—समंजन
affective—रागात्मक
aftermath—परिणाम
angularity—विषमता
aptitude—अभिक्षमता
appendage—अनुबन्ध
appreciative—भावक
apprehension—बोध
appurtenance—उपांग
arrangement—विन्यास
assemblage—समुच्चय
atrophy—अपक्षय
attention—अवधान
attitude—अभिवृत्ति
average—माध्य
aversion—अरुचि
axis—अक्ष
bi-product—उपजात
bolster—समर्थन
caprice—वहम
categorical—निरुपाधि
champion—पक्षधर
chaos—अराजकता
charlatanism—ठगविद्या
coalescence—सम्मिलन
cogent—समरस
cognition—संज्ञान
cognitive—संज्ञानात्मक
conation—क्रियावृत्ति
coherent—संगत
collaborator—सहयोगी
collocation—क्रम-विन्यास
compassed—सीमित, वेष्टित
complex—संश्लिष्ट, संमिश्र
component—अवयव, संघटक
comprehensible—सुबोध
concentration—संकेन्द्रण
concentrated—सान्द्र, संकेन्द्रित
conducive—सहायक
conquistador—विजेता
consistent—अनुरूप
consummation—समापन, संसिद्धि
content—वस्तु
corollary—उपसिद्धान्त, उपप्रमेय
correlative—परस्पर-सम्बद्ध
crescendo—आरोह
creed—मत
crystallization—आकारधारण

degenerate—अपकृष्ट
demoniacal—आसुरी
design—अभिकल्प
determinism—नियतत्ववाद
differentiated—अवकलित
dirge—शोकगीत, मरसिया
discordant—विसंवादी
disposition—मनोवृत्ति
distortion—विकृति
diurnal—दैनिक
dominant—प्रबल
dorado—स्वर्णभूमि
elucidation—विशदीकरण
embedded—निहित
emotion—संवेग
emotional—रागात्मक
environment—पर्यावरण
equivalent—अनुरूप
e'sprit—वाग्वैदग्ध्य
excitation—उत्तेजन
exciting—उत्तेजक
exigency—अपेक्षा
exuberance—सम्पन्नता, आधिक्य
faculty—क्षमता
felicity—आनन्द, सहजता
ferment—विक्षोभ
fetish—अन्धश्रद्धा
formed—रूपायित
fortuitous—आकस्मिक
frequency—आवृत्ति
fusion—एकीभाव, संगलन
garret—अटारी
germinal—भ्रूणीय
grandeur—भव्यता
gratuitous—निष्कारण
grotesque—विकृत
hallucination—विभ्रम
harmonious—सुसंगत, समरस
heritage—वंशागति
hinterland—पश्चभूमि
hypothesis—प्राक्कल्पना, उपकल्पना
idea—विचार
idealisation—आदर्शीकरण
identification—तादात्म्य
imbecile—जड़बुद्धि
impulse—आवेग
inaccessible—अगम्य
incestuous—अगम्यागामी
incoherent—असम्बद्ध
incongruous—असंगत
inco-ordination—असमन्वय
incorporated—समावेशित
inexorable—कठोर
infantile—शैशवकालीन
infinite—अपरिमित
influx—अंत:पूर
inkling—आभास
instinct—सहजवृत्ति
insubstantial—असार, सारहीन
intractable—दुर्दम, अननुकूल
intrinsic—आंतरिक
introspection—अंतरीक्षण
intrusion—अन्तर्भेदन
irrationality—युक्तिहीनता
irrelevant—अप्रासंगिक
isolated—विच्छिन्न
kinetic—गत्यात्मक, गतिमूलक
lesion—शारीरिक व्यतिक्रम
lick-spittle—चाटुकार
linked—सूत्रित
lopsided—एकपक्षीय
macrocosm—ब्रह्माण्ड
magnified—आवर्धित
maladjustment—कुसमायोजन
malformation—अपरचन
maniacal—सनकी
manipulation—प्रयोग
matrix—साँचा
mechanism—क्रियाविधि
melancholic—विषादी

microcosm—सूक्ष्मजगत्
misanthropic—मानवद्वेषी
misinterpreted—दुराख्यात
mode—भंगी
modest—शालीन
mood—मनोभाव, भावदशा
molecule—अणु
morbid—निष्क्रिय
negation—निषेध
nemesis—प्रतिशोध-भावना
nervous—तंत्रिकीय
neurotic—मनस्तापी
normality—प्रकृतिस्थता
nursery—शिशुशाला
obscuration—प्रच्छन्नता
oracular—दैवी
out-of-date—गतावधि, गतकालिक
overlapping—अधिव्यापी
participation - भागग्रहण
perceptual—प्रत्यक्ष
performance—सम्पादन
persistence—अभिनिवेश
plausibility—युक्तियुक्तता
plumb—नापना
precedent—पूर्ववर्ती
precinct—सीमा
precocity—अकालप्रौढ़ता
preconceived—पूर्वनिर्णीत
preconscious—पूर्वचेतन
preoccupation—तल्लीनता
presage—पूर्वाभास
presentiment—पूर्वसूचना, पूर्वाभास
preservation—परिरक्षण
pretentious—आडम्बरयुक्त
primordial—आदिम
prismatic—समपार्श्वीय
profundity—गंभीरता
projection—प्रक्षेपण
prompting—प्रेरणा
propagation—प्रचारण
propriety—औचित्य
psychometry—मनोमिति
psychoneurosis—मनस्ताप
psychopathy—मनोविकृति
psychopathic—मनोवैकृतिक
psychosis—मनोविक्षिप्ति
puerile—तुच्छ
quantum—प्रमात्रा
rampant—उग्र, प्रचंड
recalcitrant—दुर्दम्य
recondite—गूढ़
reflex—प्रतिवर्त
e-inforcement—पुनर्वलन
replace—प्रतिस्थापन
reprehensible—निंदनीय
response—अनुक्रिया
reticence—वाक्संयम
reversion—प्रत्यावर्तन
rule-of-thumb method—अनुभव-सिद्ध नियम

sane—संयत
scheme—विधान
sedative—उपशामक
sensitized—प्रभावग्राही
setback—अवरोध, बाधा
sex-hunger—कामेच्छा
signal—अपूर्व
somnambulist—निद्राचारी
sophistication—प्रगल्भता
soul-shattering—मर्मभेदी
species—योनि, उपजाति
specific—निश्चित
steadiness—स्थिरता
stereotyped—रूढ़
stimulated—उद्दीपित
stimulus—उद्दीपन
strain—खिंचाव
striking—प्रभावी
stunned—स्तब्ध
sublimeness—औदात्य

sublimation—उदात्तीकरण
subliminal—अवसीम
subnormal—अवसामान्य
subterranean—भूगर्भी
supraliminal—अधिसीम
super-individual—अधिवैयक्तिक
suppression—निरोध
surplus—अधिशेष
temper—मनोदशा
temperament—चित्तप्रकृति
tempo—ताव
tendency—प्रवृत्ति
tension—तनाव
tentative—प्रायोगिक
texture—गठन
theatrical—दिखावटी
tone—स्वर, तान
transmission—संचारण
tumult—हलचल
twisted—व्यावृत्त
undifferentiated—अनवकलित, अपृथक्कृत
unencumbered—अबाधित
unintegrated—अपूर्ण
universal—सार्वभौम, सर्वव्यापी
unpalatable—अरुचिकर
uprush—उद्भावन
vesture—परिच्छद
vitality—सप्राणता
volition—संकल्प
whirlwind—वात्याचक्र
woof—बाना, भरनी

परिशिष्ट ३

ग्रंथ-सूची

Adler, A.—*The Practice and Theory of Psychology.*

—*Social Interest.*

—*The Neurotic Constitution.*

—*Problems of Neurosis.*

Aldrich, C. R.—*The Primitive Mind and Modern Civilization.*

Alexander, S.—*Beauty and other Forms of Value.*

Aveling, F.—*Personality and Will.*

Baudouin, C.—*Psycho-analysis and Aesthetics.*

—*Studies in Psycho-analysis.*

Belgion, M.—*Our Present Philosophy of Life.*

Bell, Clive—*Art.*

Bergson, H.—*The Two Sources of Morality and Religion.*

—*Creative Evolution.*

—*Laughter.*

—*Matter and Memory.*

—*Time and Free-will.*

—*Mind-Energy.*

Bosanquet, B.—*Three Lectures on Aesthetics.*

—*History of Aesthetic.*

Bulley, M. H.—*Art and Understanding.*

—*Have You Good Taste ?*

Burns, C. Delisle—*The Horizon of Experience.*

Burt, C.—*How the Mind Works.*

Carritt, E. F.—*The Theory of Beauty.*

Claremont, C.—*The Chemistry of Thought.*

Collingwood, R. G.—*Outline of the Philosophy of Art.*

Croce, B.—*Aesthetic.*

Dalbiez, R.—*Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud.*

De Selincourt, O.—*Art and Morality.*

Dewey, J.—*Art as Experience.*

—*Experience and Nature.*

—*How We Think.*

—*Freedom and Culture.*

Downey, J. E.—*Creative Imagination.*

Ducasse, C. J.—*The Philosophy of Art.*

Eliot, T. S.—*Selected Essays.*

Ellis, H.—*The Psychology of Sex.*

—*A Study of British Genius.*

Flugel, J. C.—*The Psycho-analytic Study of the Family.*

Freud, S.—*Autobiographical Study.*

—*Beyond the Pleasure-Principle.*

—*Civilization and its Discontents.*

—*The Ego and the Id.*

—*The Future of an Illusion.*

—*Introductory Lectures on Psycho-analysis.*

—*New Introductory Lectures on Psycho-analysis.*

—*Interpretation of Dreams.*

—*Leonardo da Vinci.*

—*Three Contributions to the Theory of Sex.*

—*Totem and Taboo.*

—*Gradiva; Delusion and Dream.*

—*Wit and its Relation to the Unconscious.*

Garnett. A. B.—*The Mind in Action.*

Groddeck. G.—*The World of Man.*

Hart, B.—*The Psychology of Insanity.*

Hartman, E. von—*Philosophy of the Unconscious.*

Heger—*Philosophy of Fine Art.*

Hendrick, I.—*Facts and Theories of Psycho-analysis.*

Hirsch, N. D. M.—*Genius and Creative Intelligence.*

Jones, E.—*Papers on Psycho-analysis.*

—*Essays in Applied Psycho-analysis.*

Jung, C. G.—*Modern Man in Search of a Soul.*
—*The Integration of Personality.*
—*Psychological Types.*
—*Psychology of the Unconscious.*
—*Contributions to Analytical Psychology.*
Kahn, E.—*Psychopathic Personalities.*
Kant—*The Critique of Judgement.*
Kretschmer, E.—*The Psychology of Men of Genius.*
Laird, J.—*The Idea of the Soul.*
—*The Idea of Value.*
Langfield, H.—*The Aesthetic Attitude.*
Lee, H. N.—*Perception and Aesthetic Value.*
Lee, Vernon—*The Beautiful.*
Lorand, S.—*Psycho-analysis To-day.*
Lowes, Livingston—*Road to Xanadu.*
Malinowski, B.—*The Foundations of Faith and Morals.*
—*Sex and Repression in Savage Society.*
—*Crime and Custom in Savage Society.*
—*Sexual Life of the Savages.*
—*The Father in Primitive Psychology.*
—*Argonauts of the Western Pacific.*
Marshall, H. R.—*Pain, Pleasure and Aesthetics.*
McDougall, W.—*Psycho-analysis and Social Psychology.*
Middleton Murry, J.—*Studies in Keats.*
Morgan, J. J. B.—*The Psychology of Abnormal People.*
Myres, F. W. H.—*Human Personality.*
Nicolson, M. J.—*Art and Sex.*
Perry, J. S.—*Personality and the Cultural Pattern.*
Pfister, P. M.—*The Psycho-analytic Method.*
Plant, J. S.—*Personality and the Cultural Pattern.*
Prall, D. W.—*Aesthetic Judgedment.*
Prince. M.—*The Unconscious.*
Read, H.—*Collected Essays.*
—*The Meaning of Art.*

Reid, John R.—*Theory of Value.*
Rivers, W. H.—*Instinct and the Unconscious.*
Ruskin—*Modern Painters.*
Sachs, W.—*Psycho-analysis : Its Meaning and Practical Applications.*
Santayana, G.—*The Sense of Beauty.*
Sills, M. & Holmes, E. S.—*Values.*
Sollier, P.—*La repression mentale.*
Stacy, W. T.—*The Meaning of Beauty.*
Taube, M.—*Causation, Freedom and Determinism.*
Tolstoy, L.—*What is Art ?*
Vaucher, G.—*Le langage affectif et les judgements de valeur.*